

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

वर्ष : ४६ अंक : ०२ माघ-फाल्गुन वि.सं.- २०७६ फरवरी पृष्ठ २८ एक प्रति तीस रुपए RNI 43602/77 ISSN No. 2581-981X

पुण्यस्मरण बा का



तपस्विनी बा

'बा ने एक बार कहा था कि बापू के साथ चलना खांडे की धार पर चलने के समान है।'

यह उनका एक अनुभूत सच था। उन्होंने समझ लिया था कि उनका जीवन बापू के साथ तपस्या का जीवन है। त्याग का जीवन है। वहां अपना पराया कुछ नहीं है। जीवन लोक को समर्पित है। आंदोलन को समर्पित है। सत्याग्रह को समर्पित है। बा ने साथ निभाया था इसीलिए बापू मोहन से महात्मा हो गए थे। बा के बिना बापू अधूरे थे और बापू के बिना बा अधूरी थी। दोनों का ऐसा ही रिश्ता था।

एक और भी बात है कि बापू भी सच्चे पत्नीव्रती पुरुष थे। उन्होंने बा का साथ निभाया। बा की भावनाओं की इज्जत की और कई बार गलती होने पर बा से क्षमा भी मांगी। इतना ही नहीं अपने को उपवास की और मौनव्रत की सजा से भी वो नहीं चूके। कभी बापू अपने को सुधारते और कभी बा अपने को सुधारती रही। परस्पर सुधार के अभ्यास में समाज का सुधार होता रहा। आजादी का अलख जगता रहा। एक दम्पत्ती की तपस्या से पूरी दुनिया में आजादी का बिगुल बज गया। बा ने त्याग न किया होता तो ऐसा शायद नहीं होता।

वाणी



सहजो बाई

सब परबत स्याही करूं, घोलूं समुन्दर जाय।
धरती का कागद करूं, गुरु-अस्तुति न समाय।।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

ऋग्वेद

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका
वर्ष : ४६ अंक : २ • माघ-फाल्गुन वि.सं.२०७६ • फरवरी, २०२०

क्र म



संस्थापक संपादक एवं संरक्षक : रमेश थानवी | कार्यकारी संपादक : प्रेम गुप्ता | प्रबंध संपादक : दिलीप शर्मा
एक प्रति तीस रुपये | वार्षिक शुल्क तीन सौ पचास रुपये | संस्थागत वार्षिक शुल्क पांच सौ रुपये | मैत्री समुदाय तीन हजार रुपये



राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
७-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र, जयपुर-३०२००४
फोन : २७००५५६, २७०६७०६, २७०७६७७
ई-मेल : raeajaipur@gmail.com

ऐसा था 'बा' का वात्सल्य

साल का दूसरा महीना फरवरी । बापू की जीवन साथिन **बा** की याद दिलाता है। **कस्तूरबा** यानी **बा** का जन्म काठियावाड़ के पोरबन्दर नगर में वर्ष १८६९ के अप्रेल माह की ११ तारीख को हुआ था और २२ फरवरी, वर्ष १९४४ को वे बापू को इस संसार से अलविदा कह गयी थीं । ऐसी स्थिति में बापू मन से बिल्कुल अकेले हो गये थे। बापू अपने बेहद करीबी **महादेव भाई** के निधन को भूल भी नहीं पाये थे कि एक और बड़ा झटका **बा** का साथ छोड़ जाने का भी उन्हें लगा था। बापू ने **बा** के अंतिम दिनों में **बा** की बहुत सेवा-सुश्रुषा की थी। वे ज्यादा से ज्यादा समय **बा** के साथ बिताना चाहते थे। उन्हें इस सदमें से उभरने में बहुत समय लगा।

कस्तूरबा का नाम लेते ही **बापू** और **बा** दोनों का एक साथ स्मरण हो आता है। **बा** को कैसे भूला जा सकता है? असल में तो बा ने ही बापू को **प्रेमल** और **सरस** बनाये रखा। यहां तक कि बापू को **महात्मा** बनने के सफर में वे सदा उनके साथ रहीं। **बा** ने बापू के आत्मबल को कमजोर नहीं होने दिया। वे सदा एक छतनार वृक्ष बनकर उनका साथ निभाती रहीं। बापू उनके दिल, दिमाग और विचारों में रच बस चुके थे। वैसे तो स्वभाव में बापू **बा** के प्रति बहुत कठोर जान पड़ते थे, किन्तु वास्तव में यह उनका आत्मीय प्रेम था जो बापू को अंदर से **बा** के साथ होने की ताकत देता था।

बा स्वभाव से सौम्य व सरल थीं। सारी दुनिया को अपना बना लेने के आदर्शों को **बा** ने अपना जो लिया था। **बा** को दिखावे से भी नफरत थी। यह बात वर्ष १९३० की है जब **भाई प्यारेलाल जी** साबरमती जेल में थे और **भाई देवदास गुजरात** जेल में। वे उनसे मिलने जेल गयी थीं। लोग उनके स्वागत में वहां जुलूस निकालना चाहते थे जिसे लेकर वे इतना परेशान हुई कि आखिर लोगों को अपनी जिद छोड़ देनी पड़ी।



बापू की निर्णय शक्ति पर **बा** को पूरा भरोसा था। हालांकि वे राजनीति नहीं जानती थीं लेकिन वे बापू को दिल से जानती थीं, समझती थीं। और इस देश के लाड़लों के दुख को भी। **बा** स्वयं कितनी ही बार जेल गयीं थीं, उन्होंने अपने जीवन में बहुत कठिनाइयां सहीं थी। ऐसे में भी वे बिल्कुल शांत रहीं। कहीं कोई विचलन उनके जीवन में नहीं आया। अपने देश के लाड़लों तथा बापू का जेल जाना उन्हें बलिदान सा मालूम ही न होता था। यह उनके रोज का सा काम था।

बा त्याग और स्नेह की मूर्ति थीं। एक ऐसा ही प्रसंग जिसका उल्लेख **सुशीला नय्यर** ने अपनी किताब हमारी बा में किया है – जब मैं **बा** के साथ बिड़ला हाउस में गिरफ्तार हुई थी तो मेरे पास कोई गर्म कपड़ा नहीं था। उन्होंने अपना दुशाला मुझे दे दिया था। पूना में खासी ठंड थी। सरकार का हुक्म था कि बाहर की दुनिया के साथ हमारा कोई संपर्क न रहे। ऐसी दशा में वह दुशाला न होता, तो मुझे बहुत तकलीफ होती। बापू के उपवास के दिनों में मेरी मां वहां आयी थीं। **बा** ने सोचा कि कहीं सुशीला गरम कपड़े मंगवाना भूल न जाय, इसलिए उन्होंने खुद ही माताजी से कहा–'सुशीला के पास शाल नहीं है। मेरा इस्तेमाल करती है। उसके लिए शाल वैगरह भेज दें।' मां ने सोचा होगा कि **बा** को अपने दुशाले की जरूरत है, इसलिए वे उसी रोज अपनी शाल वहां मेरे लिए छोड़ गयीं। दूसरे रोज **बा** ने उसे देखा और पूछने लगीं–यह किसकी है? मैंने कहा–मां मेरे लिए छोड़ गयी हैं। **बा** इसे सह न सकीं। बोलीं–अपनी मां का दुशाला उन्हें लौटा देना। तेरे पास तो मेरा है न? मैंने कहा–'**बा**, आपको इसकी जरूरत पड़ेगी न?' इस पर **बा** **बोलीं–नहीं,** नहीं, बहन मुझे जरूरत नहीं है। मैंने मां से कह दिया है कि वे तेरे लिए दुशाला और गरम कपड़े भेज दें। जब वे आ जायें तो तू मेरा दुशाला भले ही मुझे लौटा देना।'और उन्होंने आग्रह के साथ वह दुशाला वापस करवाया। **बा** के दुशाले को मैंने संभालकर उनकी अलमारी में रख दिया। **बा** की मृत्यु के बाद देवदास भाई ने **बा** की स्मृति के रूप में वह दुशाला मुझे साग्रह वापस कर दिया।

हिन्दू मुसलमान के लिए भी **बा** के मन में समान प्रेम था। उनके मन में दूसरी कौम के लिए कोई भेदभाव नहीं था। डॉक्टर अंसारी, हकीम साहब, अजमल खां और मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे तमाम मुसलमान मित्रों के प्रति उनके मन में जमनालालजी, सरदार बल्लभ भाई जैसा ही प्रेम भाव था। **एक दिन अखबार में यह पढ़कर वे बहुत नाराज हुईं कि गांधी और जिन्ना एक दूसरे से मिलना तक पसंद नहीं करते।** वह कहने लगी, यह बिल्कुल झूठ है। गांधी तो जिन्ना के घर मिलने गये थे और महादेव भाई ने यह सब लिखकर भी रखा है।



बा त्याग की मूर्ति थीं। बापू ने **बा** के लिए एक छोटा सा घर बनवाया था। लेकिन उसमें एक कमरा भी उनका अपना नहीं था। उस कमरे को भी वे जब तब लोगों के सोने के लिए छोड़ देती थीं और खुद बरामदे में सोती थीं। खुद बापू इस चीज को स्वीकार करते थे कि **बापू ने बा के जीवन को बेहद कठोर** बना दिया है। खास तौर पर जब कोई बापू की अहिंसा पर सवाल उठाता तो बा बिल्कुल नहीं सह पाती थी। ऐसी थी **बा**। हम सब की **बा**। ❑ –प्रेम गुप्ता

आ ले ख



प्राणनाथ पंकज

सतत शिक्षा और व्यक्तित्व विकास

सतत सीखना और सीखते जाने की प्रक्रिया शिक्षा कहलाती है। मन में जानने की उत्कंठा से सवाल पैदा होते हैं और ऐसे सवालों का जवाब सतत खोजते जाना अनौपचारिक शिक्षा का प्रारंभ है। शिक्षा में यह निरन्तरता जरूरी है। मन में अपूर्णता का अहसास हमें विनम्र विनयशील और शालीन बनाये रखता है। आज विकास की उर्ध्वगति के बावजूद हम निरन्तर अधोगति की ओर जा रहे हैं। शिक्षाविद् प्राणनाथ पंकज का यह आलेख जीवन में आनन्द, सुख और स्थायित्व के बजाय विद्यार्थियों में बढ़ते असंतोष की चिन्ता जताता है और विनाश के संसाधनों के बढ़ते प्रयोग के लिए वे सवाल उठाते हैं कि क्या हम ऐसी व्यवस्था में स्वयं को कितना जिम्मेदार मानते हैं ? क्या हम शिक्षा की कसौटी पर खरे उतर पा रहे हैं? इस लेख का यह पहला भाग है। दूसरा भाग अगले अंक में पढ़ें। सं. ❑

भारतीय परम्परा में शिक्षा वेद के छह अंगों[1] में प्रथम है। यहां शिक्षा को शब्दों के शुद्ध उच्चारण, ध्वनि में आरोह-अवरोह पर ध्यान तथा श्रुतिमाधुर्य के रूप में परिभाषित किया गया है। एक शिक्षित व्यक्ति की पहचान उसके स्वर में स्पष्टता और ध्वनि में मिठास से होती है। भर्तृहरि ने कहा है कि अन्य कोई भी आभूषण न होने पर भी सुसंस्कृत वाणी रूपी भूषण स्थायी आभूषण है- **वाग्भूषणं भूषणम्**[2]।

इस विशेष अभिप्राय के साथ सामान्य अर्थों में भाववाचक शब्द के रूप में 'शिक्षा' का प्रयोग किया जाता है (शिक्ष्-भावे)। विशेष अभ्यास द्वारा जिसे प्राप्त किया जा सके- **'शिक्षाविशेष लघुहस्ततया...'**[3]- उसे शिक्षा कहा गया है। सीखने, अध्ययन और स्वाध्याय के द्वारा अर्जित, गुरुजनों, मित्रों, पारिवारिक-सामाजिक परिवेश, व्यक्तिगत अनुभवों आदि से उपलब्ध ज्ञान शिक्षा के अन्तर्गत ही परिभाषित होते हैं।

व्यावहारिक अर्थों में, 'कुछ कर पाने की योग्यता हासिल करने' व 'सफलता प्राप्त करने' को भी शिक्षा कहते हैं। सीखने-सिखाने की प्रक्रिया तो शिक्षा कहलाती ही है। पर इस लेखक के विचार में शिक्षा के सबसे सुंदर अर्थ और उद्देश्य तथा व्यक्तित्व-निर्माण से जुड़े अभिप्राय हैं, 'विनयशीलता', 'विनम्रता', 'सरलता' (ऋजुता), 'शालीनता' और 'संतुलित जीवन'[4]। शैशव में ही दी गई शिक्षा को कालिदास ने 'प्रणिपात' के साथ जोड़ कर विनम्रता के अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया है, **'बभूव नम्रः प्रणिपात शिक्षया'**[5]।

सुशिक्षित होने के लिए प्रथम और अनिवार्य आवश्यकता है, 'जिज्ञासा'-जानने की इच्छा, ज्ञान की पिपासा। शिक्षा चाहे लौकिक विषयों की हो या पारमार्थिक विषयों की, जब तक जानने की उत्सुकता नहीं होती, जब तक मन में प्रश्न नहीं जागते और मन उनका उत्तर खोजने का प्रयास नहीं करता, तब तक व्यक्ति की शिक्षा-यात्रा आरंभ नहीं होती। यह संभव है कि शिशु की औपचारिक शिक्षा का प्रारंभ

माता-पिता द्वारा घर में अथवा उसे विद्यालय में भेजकर किया जाए, पर जानने की इच्छा, प्रश्नों का मन में अनजाने में ही उठना तो उसके मन में उससे पहले ही, जन्म के लगभग तुरंत बाद ही, शुरू हो जाता है। यहीं से अनौपचारिक शिक्षा भी आरंभ हो जाती है। और यह अनौपचारिक शिक्षा आजीवन सतत शिक्षा के रूप में चलती रहती है। सचेतन, अवचेतन अथवा अचेतन में प्रश्न उठते और समाधान प्राप्त करने का क्रम बना रहता है। कई बार समाधान न मिलने से मन उद्विग्न होता है, आधे अधूरे उत्तरों से बुद्धि छटपटाती है। जो अचेतन या अवचेतन में रहता है, वह सचेतन में प्रकट होकर उत्तर की तलाश करता है और उत्तर मिल जाने पर एक सुख की, आनन्द की, 'युरेका' की अनुभूति होती है । पर शिक्षा-यात्रा समाप्त नहीं होती। नए प्रश्न उठते हैं, उत्तर मिलते हैं और इस प्रकार हमारे ज्ञान में वृद्धि होती चलती है। यह क्रम व्यष्टि-जीवन के साथ समष्टि-जीवन में चलता रहता है और विकास की प्रक्रिया को प्रेरित करता रहता है। **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'**[5] से प्रारंभ हुई यह यात्रा तब तक निष्पन्न नहीं होती जब तक **'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते**[6]' की अनुभूति नहीं हो जाती, जब तक अपूर्णता का अहसास बना रहता है। यही वह अहसास है जो हमें पूर्णता की तलाश के लिए प्रेरित करता है। अपूर्णता का यही अहसास हमें विनम्रता भी सिखाता है। भर्तृहरि ने कहा है कि जब मैं अज्ञ था तब एक मदान्ध हाथी जैसा, स्वयं को सर्वज्ञ समझता था। फिर जब विद्वजनों के संग में रहते हुए मुझे कुछ कुछ समझ आने लगी, तब मुझे पता चला कि मैं तो मूर्ख ही हूं और ऐसा समझते ही मेरे अहंकार का बुखार उतर गया।[7]

इस प्रकार शिक्षा के साथ अनहंकार और विनम्रता के अर्थ जुड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, जब तक सुसंगति में रहते हुए हमें अपनी अकिंचनता का बोध नहीं होता और सचेतन जिज्ञासा नहीं होती तब तक हम शिक्षित होने की दिशा में प्रगति नहीं करते। इतना ही नहीं, जो कुछ भी बौद्धिक दृष्टि या अचेतन में हासिल कर भी लेते हैं, उसे आत्मसात् न कर पाने के कारण वास्तविक अर्थों में शिक्षित नहीं हो पाते।

जैसा कि ऊपर कहा है, यदि, जब 'पूर्णमेवावशिष्यते' की अनुभूति हो जाती है, तभी व्यक्ति सीखने की स्थिति से ऊपर उठ पाता है, साथ ही वह देहाभिमान के साथ अहंकार की अन्य विधाओं से भी मुक्त हो जाता है। परन्तु ऐसी अवस्था की, सैद्धांतिक रूप से उसके सत्य होते हुए भी व्यावहारिक जीवन में दुर्लभ ही है। **रामकृष्ण परमहंस** या **रमण महर्षि सरीखे -मनुष्याणां सहस्रषु-** विरले व्यक्ति ही इसे प्राप्त कर पाते हैं। अन्य जनों के लिए शिक्षा की प्रक्रिया में निरन्तरता बनी रहती है। यही बात सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन पर भी लागू होती है। सीखना बंद होने का अर्थ जीवन का, गति का, प्रगति का थम जाना है। पशु से मनुष्य और मनुष्य से देवता की ओर हमारी यात्रा का संसाधन शिक्षा ही है, भले ही वह भौतिक जीवन की हो या आध्यात्मिक जीवन की। विद्यालय की शिक्षा तो एक आरंभिक अवस्था ही है। अमेरिकी दार्शनिक **जॉन डेवी** ने कहा है, 'विद्यालय की कक्षा का अनुशासन तो मानव-जीवन के आरंभिक पहलू का बुनियादी अनुशासन मात्र है। सीखने की कोई सैद्धांतिक सीमा नहीं है, न ही इस प्रक्रिया की भी कोई सीमा है।'[8]

निरन्तरता और विकास

मनुष्य की उत्पत्ति को लेकर सामान्यतः दो मुख्य अवधारणाएं हैं। पहली यह कि वह देवत्व से नरत्व में उतरता है- **फालेन एंजेल** । धार्मिक जगत् में यह विश्वास न्यूनाधिक रूप में आज भी बना हुआ है। हिन्दू धर्म में भी अवतारवाद के सिद्धान्त को इसी विश्वास के साथ जोड़ दिया जाता है। पर हिन्दुओं में ही अवतारवाद में क्रमिक विकास की मान्यता भी है- मत्स्यावतार से लेकर बुद्ध तक। **डार्विन** के विकासवाद के अनुसार मनुष्य ने देवत्व से नरत्व की ओर नहीं, वानर से नरत्व की ओर प्रगति की है - **रिसेन एप**। पर किसी न किसी रूप से विकास के क्रम को तो स्वीकार किया ही गया है। अवतार लेने के बाद भी अन्ततः अपने देवत्व की और ऊर्ध्वगमन करना ही होता है, यद्यपि यह ऊर्ध्वगमन अवतार-लीला के समाप्त होने पर स्वेच्छा से किया जाता है। इस प्रकार विकास की चरम परिणति ब्रह्मत्व में लौटकर ही होती है। गीता में जिसे 'ब्राह्मी स्थिति'[10] डिवाइन स्टेट ब्रह्म में प्रतिष्ठित होने की अवस्था कहा गया है-जीवन्मुक्ति द्वारा या विदेहमुक्ति द्वारा-वही मनुष्य के विकास की चरम परिणति हमारे अध्यात्म**वाद में मानी गई है। यही** 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' का दर्शन है।

आधुनिक विकासवाद की बात करें तो यद्यपि इस बात को लेकर मतभेद हो सकता है कि वानर तक विकसित होने या

फिर वानर से मनुष्य तक आ पाने में कितना समय लगा होगा, पर इस बात पर शायद ही कोई मतभेद हो कि मनुष्य के रूप में हम आज जहां तक पहुंचे हैं, वहां पहुंचने में हमें अनेक प्रकार की स्थितियों, संकटों, चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। मनुष्य की अदम्य इच्छाशक्ति ने किस प्रकार प्रकृति की शक्तियों को परास्त करके उन पर वर्चस्व प्राप्त किया, इस सब की अगणित विकास गाथाएं हैं। आज भी विज्ञान और प्रौद्योगिकी के बल पर, टेक्नॉलौजी की सहायता से, वह पाताल से लेकर स्वर्ग पर–अन्यान्य ग्रहों पर– विजय प्राप्त कर रहा है। इस सब को देखकर अचम्भा होता है। पर यह यात्रा समाप्त कहां हुई है ? विकास की यह यात्रा विभिन्न दिशाओं में व्यक्तिगत तथा समष्टिगत स्तरों पर निरंतर जारी है। और इस कहानी में निहित जो मूलभूत तथ्य है, वह है सतत शिक्षा द्वारा सतत विकास का तथ्य। शिक्षा द्वारा जैसे-जैसे विकास होता है, शिक्षा के सामने नई चुनौतियां आती हैं, नये आयाम खुलते हैं, नये प्रयोग होते हैं, विकास आगे बढ़ता है। जिज्ञासा अनन्त है, विकास की संभावनाएं भी अनन्त हैं और इसके साथ जुड़ी मानव की महत्वाकांक्षाओं का भी अन्त नहीं है।

विकास के साथ जुड़ी दुश्चिन्ताएं और शिक्षा

विकास के इस क्रम ने जहां एक ओर मानव की उन्नति के –ऊर्ध्वगमन के – कई मार्ग प्रशस्त किए हैं, वहां यह तथा कथित विकास विनाश के नित नए द्वार भी खोल रहा है। यद्यपि अपने मान्य अर्थों में विकास के अन्तर्गत विनाश की अवधारणा, संभावना, अकल्पनीय है, फिर भी हम हर दिन देखते हैं कि ऊर्ध्वगमन के स्थान पर हम अधोगति की ओर जा रहे हैं। वेद के ऋषि ने जब 'जीवेम शरद:शतम्' की प्रार्थना की थी, तब उसने 'रोहेम शरद: शतम्' की भी याचना की थी।[११] हम सौ वर्ष जिएं' और उन सौ वर्षों में निरन्तर 'आरोहण' करते – उन्नतिशील–रहें। क्या हमारे विज्ञान ने, टेक्नॉलॉजी ने, सब ऐसे ही उपकरण और साधन प्रदान किए हैं कि हम व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व, सभी स्तरों पर सच्चे अर्थों में पाशविक धरातल से उठ कर मानवीय उदात्तता और दिव्य जीवन की ओर बढ़ सकें ? क्या हमारे जीवन में प्रसन्नता के क्षणों में, सुख के, आनन्द के क्षणों में वृद्धि हुई है ? कुछ स्थायित्व, कुछ एकाग्रता आ पाई है ? क्या हमारा तनाव, अवसाद, हमारी मानसिक व्याधियां कम हुई हैं या बढ़ी हैं ?

भारत के प्रथम उपराष्ट्रपति (बाद में राष्ट्रपति), महान चिन्तक, दर्शन शास्त्रों के अध्येता और व्याख्याता, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने कहा था 'आर्थिक व्यक्ति जो उत्पादक और भोक्ता है, बौद्धिक व्यक्ति, वैज्ञानिक व्यक्ति, पूर्ण मनुष्य नहीं है। विश्व भर के विचारशील व्यक्ति विज्ञान और प्रौद्योगिकी को जरूरत से ज्यादा दिये जा रहे महत्त्व को लेकर चिन्तित हैं। सभ्यता के विरुद्ध किये जा रहे अपराध असभ्य अथवा अपठित लोगों के द्वारा नहीं अपितु बहुपठित तथा तथाकथित सभ्य लोगों द्वारा किये जा रहे हैं। एक लोकोक्ति है कि एक परिष्कृत और सभ्य राज्य बर्बरता से उतना ही दूर है जितना चमकाया गया फौलाद जंग से... संसार के अग्रणी लोग आज जिन कई समस्याओं का सामना कर रहे हैं, उनमें सबसे भयावह पूरी मानव जाति के नष्ट हो जाने की संभावना है... हम रसातल के कगार पर खड़े हैं, या शायद उसकी दिशा में खिसकते जा रहे हैं।।'[१२]

आज से लगभग ६७ वर्ष पूर्व इस मनीषी विचारक और प्रख्यात शिक्षक के उपरोक्त शब्द न केवल विश्व के सभ्य समाज के लिए चिन्ता का विषय हैं, वे हमारी शिक्षा-पद्धति की भी कठोर भर्त्सना हैं। तब से अब तक यदि कुछ हुआ है तो वह यह है कि हम फिसलते हुए उस रसातल में और आगे उतर रहे हैं। पूरे विश्व में– और भारत उस में शामिल है– विनाश के संसाधनों में उन उपकरणों को तेजी से और भरा जा रहा है, उनका इस्तेमाल करने के न सिर्फ बहाने ढूंढे जा रहे हैं, उनका इस्तेमाल किया भी जा रहा है। इन उपकरणों के उत्पादक देश इनका व्यापार करके स्वयं को आर्थिक रूप से अधिकाधिक समृद्ध बना रहे हैं। विडम्बना यह है कि इसे लेकर किसी के मन में न पश्चाताप है न अपराध-बोध। अपितु यह विकसित राष्ट्रों की प्रगति के प्रतीक बने हुए हैं।

तो शिक्षा किस दिशा में जा रही है ? ऊपर जिस भाषण का अंश उद्धृत किया गया है, उसी में **डॉ. राधाकृष्णन्** ने कहा है–

''हमारे विश्वविद्यालयों में हमारी संस्कृति के प्रति उपेक्षा छात्रों में बढ़ते हुए असंतोष का एक मुख्य कारण है... विद्यार्थियों के जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए धीरता, आत्मसंयम और संवेदनशीलता जैसे जिन गुणों की आवश्यकता है, उनका प्रशिक्षण उन्हें नहीं दिया जाता। महान् कार्यों के लिए अनिवार्य ऐसे अनुशासित उत्साह के बिना विद्यार्थी न केवल अपने अपितु पूरे समाज के लिए खतरा बन जाते हैं...'

और उसी सांस में वे कहते हैं,

'इस प्रकार के (उपरोक्त गुणों के) विकास में हमारा प्राचीन सत्साहित्य सहायक होता है। मैं आशा करता हूं कि विश्वविद्यालय शिक्षा के इस पक्ष की ओर अधिक ध्यान देंगे'।[13]

शिक्षा के एक और महत्वपूर्ण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने अपने एक अन्य भाषण में जो कहा था, उसका उल्लेख करने से पूर्व हम एक पाश्चात्य शिक्षाविद् विलियम टौरी हैरिस के एक कथन की ओर ध्यान दिलाना चाहेंगे। उन्होंने कहा था, 'शिक्षा पाशविक मौज-मस्ती की प्रवृत्ति के स्थान पर सामाजिक-व्यवस्था को अंगीकार करने की प्रक्रिया है। यह क्षणिक स्वेच्छाचार का त्याग करके शाश्वतस्वाधीनता को चुनने का निर्णय है'।[14]

जब हम किसी व्यवस्था को अंगीकार करते हैं तो उसके प्रति हम स्वयं को उत्तरदायी भी बनाते हैं। यदि उसके गुणों को स्वीकार और प्रसार करते हैं तो उसमें समय-सयम पर आने वाले दोषों के निराकरण का उपाय भी करते हैं।

पर हम ऐसा कर सकें, उसके लिए क्या हमारी शिक्षा-व्यवस्था हमें तैयार करती है? क्या हम छात्रों में प्रत्येक स्तर पर उत्तरदायित्व की भावना जगा पा रहे हैं? कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में समय असमय पनपने वाली विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों के निराकरण के उपकरण क्या हमारी व्यवस्था में उपलब्ध हैं? या फिर हम व्यवस्था को दोष देकर अथवा समस्या को तात्कालिक रूप से निपटा कर संतुष्ट हो जाते हैं? डॉ. राधाकृष्णन ने इससे संबंधित एक सवाल आज से लगभग ६५ वर्ष पूर्व उठाया था पर आज भी उस पर प्रश्नचिह्न वैसे ही लगा हुआ है। उन्होंने कहा था:

'विस्तृत, लंबे चौड़े पाठ्यक्रम की अपेक्षा एक योग्य शिक्षक के साथ, आमने सामने बैठकर बातचीत करना कहीं अधिक लाभदायक है। छात्र और शिक्षक के बीच इस प्रकार के वैयक्तिक संवाद के लिए क्या आजकल के महाविद्यालयों में, जिनमें न पर्याप्त साधन, न ही पर्याप्त स्टाफ ही है, ऐसे अवसर उपलब्ध हैं? जब तक हमारे पास यह नहीं हैं, तब तक ऐसा करते रहने से क्या लाभ कि छात्र अनुशासन हीन हैं अथवा विश्वविद्यालयों का स्तर गिर रहा है'?[15]

उपनिषद् का वह मंत्र याद आता है, जिसमें शिक्षक और छात्र आमने-सामने बैठ कर प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर हम 'दोनों' की रक्षा करें, हम दोनों का साथ-साथ भरण-पोषण हो, हमारा स्वाध्याय हम दोनों को तेजस्वी बनाए, हम दोनों में कभी परस्पर द्वेष न हो।[16]

इस मंत्र में ध्यान देने की बात केवल यही नहीं है कि यहां छात्र शिक्षक के बीच पारस्परिकता की ध्वनि है, अपितु यह प्रार्थना 'दो जनों-शिक्षक और शिष्य के बीच है, प्रयोग द्विवचनान्त है और इस बात की कामना है कि दोनों में आपसी विद्वेष पैदा न होने पाए। शिक्षक की योग्यता को लेकर अथवा शिष्य के उससे आगे निकल जाने पर एक दूसरे के साथ ईर्ष्या न उपजे। सम्मान और स्नेह का भाव बना रहे।'

डॉ राधाकृष्णन पूछते हैं कि क्या हमारे महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की पारस्परिकता को प्रोत्साहित किए जाने के अवसर उपलब्ध हैं? क्या हम विलियम हैरिस की इस अपेक्षा को चरितार्थ कर पा सकने में सफल हैं कि हमारी शिक्षा-प्रणाली पाशविक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित न करके एक सुचारू सामाजिक व्यवस्था को बल प्रदान करने वाली हो? क्या हम 'शिक्षा' शब्द के उस अर्थ की, जो ऊपर इस निबंध में दिए गए हैं, कसौटी पर खरे उतर पा रहे हैं? ❑

करुणायन, १०६४/१, सेक्टर ३९-बी, चण्डीगढ़-१६००३६

संदर्भ और अन्त्य संकेत -

१. अन्य पांच वेदाङ्ग: कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष।
२. नीतिशतक १९ (नागपुर, रामकृष्ण मठ द्वारा प्रकाशित संख्यानुसार, पृष्ठ ११)
३.कालिदास, रघुवंश, ६/६३, मल्लिनाथ की संजीवनी टीका आदि (मुंबई, निर्णयसागर मुद्रणालयम्, १९४८, पृष्ठ २४०)
४. शिक्षा के विभिन्न अर्थों के लिए दे. आप्टे, वी.एस. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास, २०००, पृष्ठ-९१६-१७
५. रघुवंश ३/२५
६. ब्रह्मसूत्र, १.१.१ (अथ ब्रह्म को जानने की इच्छा का क्रम आरंभ होता है।)
७. ईशावास्योपनिषद्, शांतिपाठ (पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही बचता है।) यही पाठ
बृहदारण्यकोपनिषद तथा कुछ अन्य उपनिषदों में भी मिलता है।
८. नीतिशतक
९. 'स्कूल एंड सोसायटी। दे. हर्बर्ट श्नाइडर, अ हिस्ट्री ऑव अमेरिकन फिलॉसॉफी पृष्ठ ४८९ (मोतीलाल बनारसीदास, १९६९)
१०. गीता-२/७२
११. यजुर्वेद ३६/२४, अथर्ववेद १९/६७/४
१२. दिल्ली विश्वविद्यालय में ५ सितम्बर, १९५३ को दिया गया दीक्षान्त भाषण : राधाकृष्णन्, एस. ओकेजनल स्पीचिज एंड राइटिंग्स, अक्तूबर, १९५२- जनवरी, १९५६, पृष्ठ ५९ (नई दिल्ली, पब्लिकेशन्स डिवीजन, १९५७)
१३. वही, पृष्ठ ६२-६३
१४. अ हिस्ट्री ऑव अमेरिकन, फिलॉसॉफी, पृष्ठ १६८
१५. गुजरात विश्वविद्यालय, दीक्षान्त भाषण, ८ अक्टूबर, १९५५ (ओकेजनल स्पीचिज एंड राइटिंग्स, पृष्ठ १७१)
१६. कठोपनिषद् तथा अन्य उपनिषदें (शांतिपाठ)



नन्दकिशोर आचार्य

मनुष्य की पहचान मनुष्यत्व में ही है...

पिछले दिनों समिति में गर्ल्स नॉट ब्राइड्स विषय पर राजस्थान गठबंधन की एक बैठक रखी गयी थी। इस बैठक में राजस्थान की 20 स्वयंसेवी संस्थाओं के साथ अच्छी संख्या में छात्रों ने हिस्सा लिया था। हिंसा के विषय पर साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित लेखक, चिन्तक, आलोचक नन्दकिशोर आचार्य द्वारा दिया गया व्याख्यान हम यहां हूबहू प्रकाशित कर रहे हैं। सभी पाठक इसको पढ़कर चिन्तन, मनन का लाभ उठा सकेंगे। सं. ❑

हिंसा को परिभाषित करते हुए जोहन गोल्तंग ने कहा है कि मानवीय आत्मसिद्धि -ह्यूमन सेल्फ-रियेलाइजेशन में कोई भी निवारणीय बाधा हिंसा है। मनुष्य को मनुष्यत्व के रूप में पहचानना और बने रहना, यही उसकी आत्मसिद्धि है। मैं यहां आत्मा-परमात्मा की आत्मसिद्धि की बात नहीं कर रहा हूं। वह अपने रिश्तों में, अपने विचारों में, अपने संबंधों में मनुष्यत्व की सिद्धि कर सकता है तो यही उचित है और यही आत्मसिद्धि है। इसमें जो भी अवोइडेबल बाधा आती है, वह हिंसा है। दूसरों के प्रति भी, और अपने प्रति भी।

इसलिए मैं यह मानता हूं कि यह परिभाषा एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक या मानव केन्द्रित नहीं है। यह अन्य सभी के प्रति हिंसा को शामिल करती है। मनुष्य यदि दूसरों के प्रति हिंसा करता है तो वह मनुष्यत्व के प्रति भी हिंसा कर रहा होता है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि दूसरी चीज अपने आप शामिल हो जाती है।

मैं आपको एक घटना बताऊं। जब मैं आईआईआईटी हैदराबाद में था तब विद्यार्थियों से इस तरह के विषयों पर बातचीत के दौरान एक लड़के ने खड़े होकर कहा- अगर मैं यह शीशा तोड़ दूं तो मैंने किसी को मारा नहीं, मैंने किसी के प्राण को नष्ट नहीं किया। यह तो निर्जीव वस्तु है इसे मैंने तोड़ दिया। तो क्या यह हिंसा है? तो मैंने कहा कि मैं इसे हिंसा कहूंगा। बिना किसी उचित कारण के अगर ऐसा कर रहे हो तो अपने मनुष्यत्व को मार रहे हो। अपने आपको हिंसक बना रहे हो। यह हिंसा है तुम्हारे अपने प्रति। तुमने किसी जीव को तो नहीं मारा। जैन दर्शन में इसको भाव हिंसा कहते हैं। आपने किसी को मारा नहीं है, मन में सोच लिया है तो वह भी भाव हिंसा है। तो एक प्रकार से हम यह परिभाषा लें तो यह देखना पड़ेगा कि हिंसा कितने प्रकार की है? कितने प्रकार की स्थितियां ऐसी हैं जो हमारी आत्मसिद्धि में बाधा बनती हैं।

प्रत्यक्ष हिंसा क्या होती है ? यह हम सब जानते हैं। लेकिन जो इनडायरेक्ट (अप्रत्यक्ष) हिंसा है वह अधिक घातक सिद्ध होती है। बड़े पैमाने पर प्रत्यक्ष हिंसा की तुलना में हम कह ही सकते हैं कि प्रदूषण के कारण कई बीमारियां और लोगों की मौत होती है। इत्यादि-इत्यादि। यह सब जो कुछ होता है वह सब हिंसा ही है। क्योंकि वो किसी न किसी को मार रही है। लेकिन गाल्तंग यह कहता है कि अप्रत्यक्ष हिंसा दो प्रकार की होती है।

एक स्ट्रक्चर वाइलेंस और दूसरी को कहते हैं कल्चरल वॉइलेंस।

जिसे हम ढांचागत या संरचनात्मक हिंसा कहते हैं। जो भी हमारी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संरचना है। यहां जाति का सवाल नहीं है। जो भी हमारे पारिवारिक रिश्तों की संरचना है वह सब स्ट्रक्चरल है। हम सोशल स्ट्रक्चर कहें, फैमेली स्ट्रक्चर कहें, उसको हम इकोनोमिक स्ट्रक्चर कहें, अगर एक ऐसी इकोनोमी डवलप होती है जो सबको स्वस्थ रोजगार नहीं दे सकती। जो स्वस्थ जीवन के लिए साधन जुटाने में असमर्थ होती है, अपनी प्रक्रिया की वजह से नहीं जुटा पाती है। वो भी हिंसा है। इसीलिए शोषण एक तरह की हिंसा है। अगर आप किसी का अपमान करते हैं, उसको नीचा मानते हैं अपने से तो वह भी एक प्रकार की हिंसा है। आपने उसके 'मनुष्य' को मारा है। वास्तव में तो नहीं मारा, मन में तो आपने मार ही दिया। तो यह एक प्रकार से स्ट्रक्चरल वाइलेंस है। जितने प्रकार के स्ट्रक्चर आपको समाज में दिखाई देते हैं। अब आप देखिए कितने स्ट्रक्चर ऐसे हैं जो हिंसक नहीं है आज के जमाने में।

एक ऐसी इकोनोमी डवलप होती है जो सबको स्वस्थ रोजगार नहीं दे सकती। जो स्वस्थ जीवन के लिए साधन जुटाने में असमर्थ होती है, अपनी प्रक्रिया की वजह से नहीं जुटा पाती है। वो भी हिंसा है। इसीलिए शोषण एक तरह की हिंसा है।

अब आप शिक्षा के स्ट्रक्चर को ले लीजिए, जिससे हम सब जुड़े हुए हैं। उसमें कितनी हिंसा है? टीचर और छात्र के बीच सम्बन्ध कितने हिंसक हैं? अध्यापक और सरकार के बीच संबंध कितने हिंसक हैं? मैनेजमेंट के संबंध कितने हिंसक हैं? जो कुछ पढ़ाया जा रहा है। हमारे जो पाठ्यक्रम हैं वे हिंसा को कितना बढ़ाते हैं? जो कुछ पढ़ाया जा रहा है, वह कितना हिंसक है? हमारी भाषा कितनी हिंसा बढ़ाती है? भाषा में आप देखेंगे कि मोटे तौर पर पुरुषवाचक संज्ञाएं कितनी अधिक प्रधान हैं। उसके बाद हम उसे नर से नारी कर देते हैं, सिंह से सिंहिनी कर देते हैं। यानी 'केन्द्र' में कौन है? भाषा के केन्द्र में 'पुरुष' वाची है। आपने उसको बदलकर यानी जो महिला डाक्टर है उसे डॉक्टरनी कहते हैं। डॉक्टर नहीं कहते। एक सामान्य सी बातचीत मैं आपसे करूं। यह हमारे साथ नहीं है दुनिया की सारी भाषाओं में है। जैसे ऐम्परर से ऐम्परेस बना और टाइगर से टाइग्रेस बना। हमारे दिनेश जी कहते हैं कि छोटी किताब के लिए 'कितबिया' छापी है। किताब भी वैसे स्त्रीलिंग ही है। लेकिन इसको और भी छोटा करके कहा है। जो एक प्रकार से छोटी चीज है जो सैकण्डरी है उसको हमने स्त्रीवाचक बना दिया। वेद में उषा को भी देवता कहा है। हम उसको देवी कहने लग गये। वनस्पति को भी देवता कहा गया है और हम उसे देवी कहने लग गये । तो इस प्रकार से हमारी भाषा में सारी चीजें आ गईं। ठीक ये चीजें शिक्षा में भी आ गईं। तो अगर कोई चेप्टर पढ़ रहे होंगे। सुभद्रा कुमारी चौहान की एक कविता–खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झांसी वाली रानी थी। अरे मर्दानी क्यों भई? हम सब उसकी खूब प्रशंसा करते हैं। बड़े भक्त हैं उस कविता के। लेकिन उसका भाषिक विश्लेषण करेंगे तो जो 'मर्दानी' नहीं है उसे 'स्त्रैण' कहते हैं। ये हमारी भाषा के शब्द हैं। आपको लगता है कभी कि यह हिंसक है? यह भाषा कितनी हिंसक है? यह सोचते हैं हम कभी? हमको लगता है कि यह नहीं होना चाहिए?

आजकल यूरोप में तो कुछ जगह यह होने लगा है। 'एक्ट्रेस' नहीं लिखते 'एक्टर' ही लिखते हैं। उसके लिए 'शी' इस्तेमाल करते हैं 'ही' नहीं करते। पोयट ही लिखते हैं पोयटेस नहीं लिखते। ये सब सुधार करने की कोशिशें हैं। मुझे नहीं लगता कि लोग ये होने देंगे। समाज के दूसरे स्ट्रक्चर ही ले लो। हमने ये मान लिया कि जो आदमी पैसा लगायेगा वो मुनाफा कमायेगा। यह सामान्य धारणा है। क्या वास्तव में ऐसा है कि जो पैसा लगाता है उसे ही मिलना चाहिए। जो बहुत बड़े पूंजीवादी विचारक माने जाते हैं, पूंजीवाद के विस्तार में जिनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। उनमें एक है 'डेविड रिकार्डो'। उन्होंने कहा कि श्रम भी पूंजी है। जो मेहनत करता है वह

भी एक तरह की पूंजी है। जिस टेक्नोलोजी और ज्ञान के आधार पर यह प्रोडक्शन हो रहा है। वो ज्ञान क्या किसी एक व्यक्ति की संपत्ति है? वो पूरी मानवता के इतिहास की सम्पत्ति है। मनुष्य ने अपनी विकास यात्रा में जो ज्ञान एकत्रित किया है वह सबका है। जैसे पृथ्वी सबकी है। उसी तरह से वह ज्ञान भी सबका है। वो जो ज्ञान सबका है उसका फायदा एक ही व्यक्ति क्यों उठाए? जो श्रम कर रहे हैं उसका फायदा एक ही व्यक्ति क्यों उठाए?

लेकिन हमारा स्ट्रक्चर ऐसा बना हुआ है। उसमें यही हो सकता है और कुछ नहीं। कभी राज्य के बारे में भी ऐसा ही था, लेकिन आज ऐसा नहीं है। आज हम डेमोक्रेसी में हैं, फिर चाहे कैसी भी हो? फिर राज्य के बारे में भी ऐसा ही है जो राजा होगा वही करेगा, जो वह चाहेगा। राजा सब कुछ कर सकता है। राजा का शब्द ही कानून है। जो उसने कह दिया वही लॉ है। जो पॉलिटीकल स्ट्रक्चर था उसने ये सारी चीजें पैदा की हैं। अभी भी हमने यह मान लिया है कि जो सरकार आपने चुनी वो सरकार पांच साल के लिए वेलिड है। वो जो कुछ भी करे। पार्लियामेंट ने पास कर दिया वो हो गया। अधिक से अधिक यही तो करना है ना! तो अगर ये करना है तो वह आपके प्रति जो चाहे हिंसा कर सकती है। दुनिया भर की संसदें ऐसा करती हैं। महात्मा गांधी ने संसद के लिए बड़ा गलत शब्द इस्तेमाल किया था। जो मैं यहां रिपीट करना नहीं चाहता। मैं उसको उचित शब्द नहीं मानता हूं। गांधीजी ने भी यही कहा था मैं उसको बदलना चाहूंगा। सारी संसदों की जो मां मानी जाती है। उन्होंने कहा संसद जो है वह वैश्या और बांझ है। यह दोनों शब्द महिलाओं के लिए अपमानजनक हैं। एक महिला मित्र ने ऑब्जेक्शन किया था। उन्होंने भी उसे मान लिया था कि यह उचित नहीं था। मैं दुबारा लिखूं तो मैं इसे बदलना चाहूंगा। लेकिन इसके पीछे जो भाव था वह यह था कि यह कुछ करती वरती नहीं है।

जो सरकार आपने चुनी वो सरकार पांच साल के लिए वेलिड है। वो जो कुछ भी करे। पार्लियामेंट ने पास कर दिया वो हो गया। अधिक से अधिक यही तो करना है ना! तो अगर ये करना है तो वह आपके प्रति जो चाहे हिंसा कर सकती है। दुनिया भर की संसदें ऐसा करती हैं।

मैं आपको एक उदाहरण देता हूं। हमारे देश में जब इमरजेंसी लगी। संसद का कार्यकाल पांच साल है। वर्ष १९७१ में चुनाव हुए थे, पांच साल ७६ में पूरे होते थे। आपको याद है। ७६ में इमरजेंसी थी। चुनाव उन्हें कराना नहीं था। तो उन्होंने पार्लियामेंट में मूव करके एक विधेयक पारित करवाया कि लोकसभा का कार्यकाल छह साल का होगा। अब सोचिए आप छह साल कर सकते हैं तो छह से दस साल भी कर सकते हैं। उसमें क्या प्रोबलम है, अधिकार आपके हाथ में है। एक और आपको उदाहरण देता हूं। नेपोलियन तृतीय नेपोलियन बोनापार्ट के भतीजे १८४८ में जब संविधान लागू हुआ। उस संविधान में वह राष्ट्रपति चुना गया। उन्होंने एक प्रस्ताव करवाया संसद से कि वे दस साल के लिए राष्ट्रपति हो गये। संसद को अधिकार था उन्होंने कर दिया। और उसके बाद उसी संसद ने एक प्रस्ताव पारित कर दिया कि उन्हें राष्ट्रपति नहीं एम्परर ऑफ फ्रांस कहा जाये। आपको आश्चर्य होगा कि जो गणतंत्र किसी भी तरह के राष्ट्रीयता के विरुद्ध है वो गणतांत्रिक रूप से किसी भी चुने हुए व्यक्ति को सम्राट घोषित कर रहा है। अब आप बताइए कि यह डेमोक्रेटिक है या अनडेमोक्रेटिक।

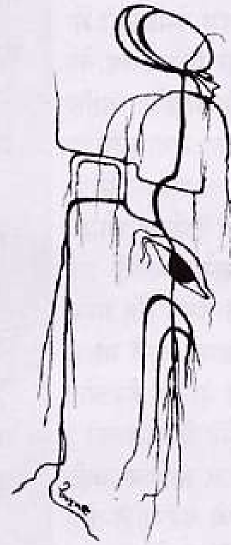
देखिए ये जो डेमोक्रेटिक स्ट्रक्चर है वो भी कितनी हिंसा कर सकता है। इस बात को समझिए। पॉलिटिकल स्ट्रक्चर, सोशियल स्ट्रक्चर हमारे घरों में भी कितनी हिंसा हो रही है। स्त्रियों के प्रति घरों में क्या व्यवहार होता है। बच्चियों के प्रति क्या व्यवहार होता है। मैं अक्सर पूछता हूं कि अच्छे खासे घरों में बहन को दूध दिया जाता है क्या? अब सवाल यह है कि इन सारी हिंसाओं को जस्टीफाई कैसे किया जाये? हम इनको जस्टीफाइड मानते हैं। इस तरह की हिंसा को हम कहते हैं बिलिफ (विश्वास) सिस्टम। इसको सांस्कृतिक हिंसा कहा गया है।

शेष पृष्ठ १६ पर...



डॉ. अन्नपूर्णा शुक्ला

कविताएं



आदिम हो या ?

आदिम हवाएं
कुछ बदली बदली सी
नजर आ रहीं हैं।
फिजाओं में
वहशियत की बू
छाने लगी है।
कुछ इस कदर
मायूस हैं इंसानियत,
जो सरे बाजार
लूटी जा रही हैं।
संवेदनी विरासत भी
लहू लुहान हो गयी हैं।
अहसासों का तो
जनाजा ही उठ चुका हैं,
दरिंदगी मुंहबाय
सामने खड़ी हैं।
सफेदपोशों ने नोच दिया हैं
सुर्ख होती गोधूली बेला को,
जो अब बदरंग हो चली हैं।
रात की दूधिया चांदनी
सर्द हवाओं की दासी बन गयी हैं।
क्यों? खामोशी सनसना रही हैं
लगता है फिर कोई -
आहत मन दबे पांव ,
भागा जा रहा हैं।
उसी गुफा में
जहां से वो आया था । ❑

सत्य

मैंने
जब जब बंद
खिड़कियों से झांका
आंखें दूर गुफ़्तगू
करती नजर आयी,
वो सत्य बयां करती रहीं
और मैं नजरें चुराती रही,
उन्होंने आदमी को
तार तार किया ,
इंसानियत को
सन्दूक में बंद किया,
आंसुओं को पोंछ डाला ,
पर्दे तार तार किये ,
रोशनी को बुझा दिया,
जिगर को मजबूत किया,
काला रंग घोल लिया,
सत्य को डुबोदिया,
फलक पर चिपका दिया ,
आंखों ने आंखें बंद कर-
दी आँसू टपकाकर
जोर से बोला-
सत्य तो सत्य है,
यही तो सत्य है,
और और और
सत्यमेव जयते । ❑

एक फलसफा

भीगी रात,
सरसराती हवा,
झिलमिलाते तारे,
सड़कों पर भरा पानी,
तैरती कागज की नाव,
पसरा सन्नाटा,
कुत्तों के मिमियाने की आवाज
सर्द पड़ी कायनात
दूर सामियाने में
कांपती जिंदगी,
पेड़ों की बुदबुदाहट
जैसे कुछ कहना चाह रहे हों
कि जिंदगी एक फलसफा है
भीगी रातों का,
उगते कुकुरमुत्तों के बीच
खिलते फूलों का,
सायं सायं करती हवा की
सरगम का,
भोर होती लालिमा का,
टपकती औस की बूंद से
चमकते सारे जहां का,
कुछ भी कहें फिर भी
और भी बहुत कुछ है जिंदगी
कतरा कतरा अहसासों का। ❑

वनस्थली विद्यापीठ, टोंक, निवाई

पृष्ठ १३ से आगे...

अब सवाल यह उठता है कि हमारी विश्वास प्रणाली में कुछ चीजों को हम हिंसा मानते हैं या नहीं। या तो हिंसा मानते ही नहीं है उसको। इस सारे एक्सप्लोइटेशन (शोषण) को हिंसा नहीं मानते।

बहुत से लोग इस बात को हिंसा नहीं मानते हैं कि राज्य आपके साथ क्या कर रहा है? संविधान के हिसाब से कर रहा है या नहीं। कानून क्या कर रहा है? कोर्ट आपके साथ क्या कर रहा है? कोर्ट में जाने के लिए आपको कितना पैसा खर्च करना पड़ता है? वो क्या आपके प्रति हिंसा नहीं है। गरीब आदमी यह सब जानना चाहता है। हम सबने यह मान लिया कि उचित यही होगा। इसको जो वैधता मिलती है इसको जो औचित्य मिलता है। वह हमारी विश्वास प्रणाली से मिलता है। हमारी विश्वास प्रणाली यह कहती है कि स्त्री पुरुष से नीचे है। हमारी विश्वास प्रणाली यह कहती है कि मजदूर मालिक से नीचे है। हमारी विश्वास प्रणाली मनुष्य मनुष्य में भेद पैदा करती है। वैसे तो मनुष्य मनुष्य बराबर है।

आप चपरासी को तुम कहते हैं तो वह वेलिड है। किन्तु चपरासी अफसर को तुम नहीं कह सकता। हमेशा आप ही कहेगा क्यों? वह भी तो मनुष्य ही है आप उससे आप कहकर बात क्यों नहीं करते?

अगर मान लीजिए आप चपरासी को तुम कहते हैं तो वह वेलिड है। किन्तु चपरासी अफसर को तुम नहीं कह सकता। हमेशा आप ही कहेगा, क्यों? वह भी तो मनुष्य ही है आप उससे आप कहकर बात क्यों नहीं करते? आप किसी होटल में जाते हैं तो आप वेटर से आप कहकर बात क्यों नहीं कर सकते? हम ऐसा नहीं करते क्योंकि हम यह मानते हैं कि यही उचित है। क्योंकि यह हमारे विश्वास में जम गया है।

सवाल इस बात का उठता है कि ये सब हिंसा के रूप हैं-हमारी जैसी भी संस्कृति है। संस्कृति कोई मृत वस्तु नहीं होती है। यह जीवन्त रूप है। यह लगातार गतिशील है। संस्कृति कोई जड़ चीज नहीं है। यह उसकी गतिशीलता है कि उसने हमें कहां लाकर रखा है। इसे भी समझने की जरूरत है। आपको क्यों गर्ल्स नॉट ब्राइड मूवमेंट चलाना पड़ता है ? क्या जरूरत है इसकी ? इसलिए चलाना पड़ता है कि हमने मान लिया कि गर्ल्स तो गर्ल्स है। वह ब्राइड होने के लिए ही होती है। इसलिए उन्हें उसी तरह से रखो, उसी तरह से ट्रेनिंग दो। खाना बनाना सीखा दो। यानी सब तरह से उन्हें तैयार कर दो। उनकी भूमिका यही है। ये जो भूमिका हमने तय कर दी और इसे हम उचित मानते हैं। कितने सारे पेरेन्टस हैं या ग्रांड पेरेन्टस हैं जो यह मानते हैं कि गर्ल्स इसके लिए नहीं हैं। हम स्वयं अपने घरों में क्या मानते हैं? बच्ची के बड़े होते ही चिन्ता होने लगती है। इसे जल्दी से घर से निकालो। हालांकि यह मजाक है निकालने की बात नहीं कर रहे । परन्तु तात्पर्य यही है।

दरअसल आप यह समझेंगे कि पूरी हिंसा के पीछे, विश्वास प्रणाली के पीछे पॉवर की ललक काम कर रही है। चेतना के स्तर पर आपको नहीं लगता है कि पॉवर चाहता हूं। जो ऊपर है वह पॉवर में है और जो निम्न है वह पॉवरलैस है। उसके ऊपर हावी होकर, उसे टार्चर करके, उसको अपमानित करके, उसके साथ बुरा व्यवहार करके अपनी पॉवर सिद्ध करते हैं। तभी आपको लगता है कि मैं पॉवरफुल हूं। नहीं तो पॉवर का क्या मतलब है? हैसबैंड, वाइफ को धमकी दे सकता है। पुलिस एक बेगुनाह को धमकी दे सकती है। ये सारी चीजें पॉवर में होने का अहसास है। यानी पॉवर वहां है जहां समानता के विपरीत है। असमानता तो पॉवर पैदा कर रहा है। एक रूपता तो कहीं होती नहीं है। शारीरिक रूप से तो समानता हो ही नहीं सकती क्योंकि सबके चेहरे अलग-अलग हैं। लेकिन वो समानता हमारे विचारों में, व्यवहार में, हमारी भावनाओं में, होनी चाहिए थी। वो न होकर असमानता इसलिए पैदा हुई क्योंकि हम पॉवर में रहना चाहते हैं। बहुत से मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि यह मनुष्य की रूहानी जरूरत है।

पॉवर में रहने से मनुष्य को अपनी सार्थकता महसूस होती है। तो हर आदमी किसी न किसी से

प्रताड़ित होता है या किसी न किसी को प्रताड़ित करता है। यानी किसी के ऊपर कोई और। यह हमें रोज अपने दफ्तरों में और घरों में देखने को मिलता है। व्यक्ति अपने आपको पॉवर में महसूस करने के लिए ऐसा करता है। रेप भी अपने को पॉवर में महसूस करने का आजकल एक आसान तरीका हो गया है। इसके पीछे वास्तविक कारण सेक्स नहीं है। उसे तो आप किसी भी तरह पूरा कर सकते हैं। उसके पीछे कारण है अपने को देखना कि मैं कर सकता हूं। पॉवर जो है वह हिंसा है। इसीलिए गांधीजी नॉन पॉवर स्टेट की बात करते थे। राज्य भी पॉवर का केन्द्र नहीं है जो हम मानकर चलते हैं। दुनिया में अलग-अलग देशों में, अलग अलग सभ्यताओं में अलग-अलग तरीके से डवलप होते रहे हैं।

पहले हमें इस बात को समझना चाहिए कि समानता के बिना हिंसा रहेगी। इक्वेलिटी हमारे बीलिफ सिस्टम में कितना महत्व रखती है? पॉवर को लेकर हमारे मन में क्या धारणाएं हैं? क्या पॉवर को हम एक स्वस्थ धारणा मानते हैं? या कि वो एक बीमार व्यक्ति की मानसिकता है? जो अपने को लगातार पॉवर में देखना चाहता है या अपने आपको सिद्ध करना चाहता है। ये सारी चीजें मुझे ऐसा लगता है कि मोटे तौर पर हिंसा है।

रिसर्च बताती है कि हिंसा मनुष्य में जन्मजात नहीं होती। उसमें हिंसक होने का सामर्थ्य तो है। उसमें पहल करने की प्रवृत्ति होती है। एग्रेसन दो प्रकार के होते है। एक पॉजिटिव एग्रेशन होता है और दूसरा मलिग्रेंट (घातक) अग्रेसन।

बहुत से लोग यह मानकर चलते हैं कि हिंसा तो मनुष्य का स्वभाव है। यह मानकर चला जाता है कि हिंसा तो मनुष्य हमेशा करेगा। क्या वह स्वभाव है? इस बारे में रिसर्च हुई हैं। रिसर्च बताती है कि हिंसा मनुष्य में जन्मजात नहीं होती। उसमें हिंसक होने का सामर्थ्य तो है। उसमें पहल करने की प्रवृत्ति होती है। एग्रेसन दो प्रकार के होते हैं। एक पॉजिटिव एग्रेशन होता है और दूसरा मेलिग्रेंट (घातक) अग्रेसन। मेलिग्रेंट एग्रेसन हिंसा पैदा करता है। ये मनुष्य के स्वभाव का हिस्सा नहीं है। उसके लिए कई तरह से रिसर्च किये गये हैं। एक रिर्सचर हैं-ब्रूस द बोन्ता, मानवशास्त्री, उन्होंने ऐसी जनजातियों की खोज की है जहां कोई हिंसा नहीं है। यदि यह मनुष्य का स्वभाव है तो वहां भी होना चाहिए। कोई भी मनुष्य इससे बचा नहीं रह सकता। जेपी स्कॉट एक और वैज्ञानिक हैं उन्होंने भी इस क्षेत्र में काफी काम किया है। उनकी रिसर्च बताती है कि मनुष्य हिंसक हो सकता है, अगर बाहरी परिस्थितियां उस पर दबाव डाले। बाहरी परिस्थितियों में हम अपने परिवार में जो वातावरण है, सांस्कृतिक धारणाएं भी शामिल हैं। उस कारण से वो हिंसक हो सकता है। इसीलिए कहते हैं कि हिंसा हंगर और सेक्स की तरह अनिवार्य चीज नहीं है।

हंगर एक नेचुरल टेंडेन्सी है, सेक्स एक नेचुरल टेंडेन्सी है। हिंसा एक नेचुरल टेंडेन्सी नहीं है। यह बॉयोलोजिकल टेंडेन्सी नहीं है।

अधिकांश व्यक्ति विज्ञान को मानते हैं। और विज्ञान यह मानता है कि मनुष्य विकास की प्रक्रिया से पैदा हुआ है। उन्हें यह भी समझने की जरूरत है कि विकास एक लॉ ऑफ नेचर है। उसे यदि प्रकृति का सिद्धांत कहें तो उसका विकास 'रुक' नहीं सकता। इसका आशय यह हुआ कि मनुष्य विकसित प्राणी नहीं है। वह विकासशील प्राणी है। विकासशील प्राणी होने के नाते वह भविष्य में कितना विकास करता है, यह स्वयं उस पर निर्भर करेगा। समाज को, अपने को, व्यवस्था को, स्ट्रक्चरल को, विश्वास को, किस दिशा में ले जाना है। क्योंकि नेचुरल सलेक्शन का जो प्रोसेस है, अब वह उस प्रोसेस से नहीं गुजर रहा है।

मनुष्य होने से पहले तो नेचुरल प्रोसेस काम करता है। लेकिन मनुष्य होने के बाद में उसमें चेतना, विचारने की क्षमता, तार्किक क्षमता आ गई है। इसलिए अपने विकास की प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने का सामर्थ्य आ जाता है लेकिन वह किस दिशा में करेगा। हम ऐसी परिस्थितियां बना सकते हैं जिनसे हम एक अहिंसक समाज की संरचना कर सकें। ❑

प्राकृत भारती, मालवीय नगर, जयपुर



अनिल स्वरूप

शिक्षा : इच्छाशक्ति से ही समाधान संभव

केन्द्रीय स्कूल के पूर्व शिक्षा सचिव और 'नॉट जस्ट ए सिविल सर्वेंट' किताब के लेखक अनिल स्वरूप अपनी चिंता प्रकट करते हुए लिख रहे हैं कि आज शिक्षा के अधिकार कानून के बाद भी सरकारी स्कूलों की स्थिति में कोई प्रगति नहीं हो पाई है। शिक्षा की गुणवत्ता के लिए शिक्षकों के प्रशिक्षण पर बड़े पैमाने पर ध्यान देने की आवश्यकता है। मौजूदा हालात को सुधारने के लिए एक पारदर्शी व्यवस्था तैयार करनी होगी। प्रस्तुत आलेख में वे अपने अनुभवों को साझा कर रहे हैं। सं. ❑

शिक्षा के क्षेत्र में बुआई और कटाई का सीजन महज चंद महीनों का नहीं होता। यहां आपको फसल पकने का थोड़ा इंतजार करना होता है। मगर सरकारें कोई भी हों, सत्तारूढ़ राजनेताओं और राजनीतिक पार्टियों को चुनावी फायदा तुरंत चाहिए होता है। ऐसे में शासन की ओर से शिक्षा का क्षेत्र खास तौर पर उपेक्षित रह जाता है।

आप कह सकते हैं कि सिर्फ शिक्षा ही क्यों, दूसरे क्षेत्रों को भी तो धन की जरूरत होती है। बजट बनाने वालों को तो सभी क्षेत्रों का ध्यान रखना होता है। लेकिन शिक्षा के लिए न सिर्फ अलग से सेस वसूला जाता है, बल्कि और भी कई कारण हैं, जिनकी वजह से शिक्षा को विशेष तवज्जो देना आवश्यक है। इसकी एक अहम वजह यह है कि पिछले लंबे समय से इसमें या तो बहुत मामूली बढ़ोतरी की गई है या फिर कई बार तो कटौती ही कर दी गई है।

मेरा मानना है कि सरकारों को उच्च शिक्षा की बजाय स्कूल शिक्षा पर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है। इसका यह मतलब कतई नहीं है कि उच्च शिक्षा के सरकारी संस्थानों को बंद कर दिया जाए या फिर इनका निजीकरण कर दिया जाए। मेरा जोर स्कूली शिक्षा में सरकारी प्रयास मजबूत करने पर है। यह फार्मूला कई देशों में अपनाया गया है और इसका फायदा भी मिला है। उच्च शिक्षा में सरकार जो खर्च कर रही है उसे तार्किक और लक्ष्य केन्द्रित बनाना होगा। ऐसा नहीं हो कि उच्च शिक्षा के लिए उनको भी सरकारी सब्सिडी मिले जो आर्थिक रूप से पर्याप्त सक्षम हों। उदाहरण के तौर पर आप दिल्ली विश्वविद्यालय में सभी के लिए सब्सिडी देते हैं और इसमें बहुत से ऐसे छात्र भी होते हैं जिनको वास्तव में इसकी कतई जरूरत नहीं है। इसका नुकसान वास्तव में उन गरीब प्रतिभावान छात्रों को हो रहा है जो अब भी सरकारी सब्सिडी वाली सीटो पर प्रवेश नहीं ले पाते हैं।

भारतीय प्रबन्धन संस्थान (आइआइएम) ने अब सब्सिडी काफी कम कर दी है। आखिर ऐसे लोगों को गरीब बच्चों का हक क्यों मिले जो काफी अच्छी आर्थिक स्थिति में हैं और भविष्य में भी काफी अच्छी कमाई करने वाले हैं। अगर यह मॉडल अपनाया जाता है तो आप स्कूली शिक्षा के लिए भी पर्याप्त राशि उपलब्ध करवा

सकेंगे। पिछले कुछ वर्षों में स्कूलों में ढांचागत सुविधाएं थोड़ी बेहतर हुई हैं, लेकिन छात्रों के सीखने के स्तर पर इसका कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा है। उल्टा स्थिति खराब ही हुई है। इस दौरान सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों का प्रतिशत लगातार घटता जा रहा है।

शिक्षा का अधिकार कानून के बाद भी सरकारी स्कूलों की स्थिति में सुधार के लिहाज से कोई प्रगति नहीं हुई। शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी व्यवस्था में सुधार के लिए कई कदम तुरंत उठाए जाने की जरूरत है। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए यह सबसे आवश्यक है कि **शिक्षकों को केन्द्र में लाया जाए।** सेवा पूर्व प्रशिक्षण की व्यवस्था लंबे समय तक शिक्षा माफिया के शिकंजे में रही है। सर्वविदित है कि बहुत से बीएड कॉलेज सिर्फ कागजों में चलते रहे हैं। इसे समाप्त करने के लिए चार साल का इंटिग्रेटेड बीएड कोर्स शुरू किया गया है। इसी तरह सरकारी स्कूलों में बड़ी संख्या में ऐसे शिक्षक हैं जो प्रशिक्षित या योग्य नहीं हैं। ऐसे १० लाख शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए तत्काल बड़े पैमाने पर काम करने की जरूरत है। अन्य सेवारत शिक्षकों को भी निश्चित अंतराल पर प्रशिक्षित किए जाने की जरूरत है। इसके लिए मौजूदा व्यवस्था अपर्याप्त और अतार्किक है।

शिक्षक चयन की व्यवस्था को भी पूरी तरह पारदर्शी और बेहतर बनाना होगा। इस समय एक पूर्व मुख्यमंत्री भी ऐसे ही मामले में जेल में हैं। इस लिहाज से कर्नाटक और राजस्थान में सुधार किए गए हैं। शिक्षकों के ट्रांसफर और पोस्टिंग में भ्रष्टाचार और राजनीति के बोलबाले को समाप्त करने के लिए एक पारदर्शी व्यवस्था तैयार करनी होगी। कई राज्यों में अब भी शिक्षकों की भारी कमी है। इसी तरह कुछ राज्यों में जो थोड़े-बहुत शिक्षक हैं, उनको वेतन तक नहीं मिल रहा। इनके पास स्कूली शिक्षा के लिए धन ही नहीं है।

आज के समय में शिक्षा में तकनीक बहुत बड़े गेमचेंजर की भूमिका निभा सकती है। सरकारी व्यवस्था में भी इसके उपयोग की जरूरत है। शिक्षकों की हाजिरी से लेकर छात्रों की पढ़ाई तक के लिए स्मार्ट स्क्रीन की व्यवस्था और कंप्यूटर संबंधी प्रशिक्षण आदि के लिए धन की जरूरत होगी। स्कूल पूर्व शिक्षा का महत्व अब सभी को समझ में आ चुका है। विभिन्न अध्ययनों में यह बात सामने आई है कि शुरुआत के पांच से सात साल के बच्चों के सीखने की क्षमता के लिहाज से बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। इस दौरान उसे पूरा पोषण मिले और स्कूल आने से पहले की उपयुक्त अनौपचारिक शिक्षा मिले। मौजूदा आंगनबाड़ी को सुदृढ़ करने के साथ ही प्री-स्कूल शिक्षा के लिए ठोस उपाय करने होंगे।

अनोखी बात है कि एक तरफ सरकारें कहती हैं कि उसके पास धन की कमी है, वहीं दूसरी ओर गैर-सरकारी संस्थाएं लाभ के लिए शिक्षक संस्थान चलाना चाहती हैं तो उसकी इजाजत नहीं दी जाती। जबकि विभिन्न नियमों के बावजूद ये संस्थाएं अपने लिए धन का इंतजाम कर ही लेती हैं। ऐसे में बेहतर है कि इन्हें कानूनी रूप से लाभ कमाने की इजाजत दी जाए और उस पर उपयुक्त टैक्स लिया जाए। यह एक बड़ा और साहसी कदम होगा। लेकिन इससे जो धन मिलेगा, उसका उपयोग जरूरतमंद लोगों को बेहतर शिक्षा देने पर किया जा सकता है। यह तय कर दिया जाए कि उस कर से मिलने वाली रकम कहीं और खर्च नहीं की जाएगी, बल्कि शिक्षा में ही लगाई जाएगी।

शिक्षा के क्षेत्र में जरूरी नहीं है कि कोई नई बड़ी योजना लाई जाए। इसकी बजाय मौजूदा योजनाओं और व्यवस्था को बेहतर करना ज्यादा जरूरी है। मैंने मानव संसाधन विकास मंत्रालय में सचिव रहते हुए यही पाया है कि शिक्षा के क्षेत्र में राज्यों की जरूरतें बिल्कुल अलग-अलग हैं। केन्द्र में बैठकर सभी के लिए एक जैसी योजना बनाने से बचना होगा। इसकी बजाय व्यापक दिशा-निर्देश दिए जाएं। केरल में सामान्य तौर पर न तो शिक्षकों की कमी है और न ही पढ़ने को लेकर उनके समर्पण में। लेकिन उत्तर प्रदेश में स्थिति इसके विपरीत है। शिक्षा के क्षेत्र में कई राज्यों में बहुत अच्छे प्रयोग हो रहे हैं, जिन्हें दूसरी जगहों पर भी अपनाने की जरूरत है। अगर इच्छा शक्ति हो तो शिक्षा क्षेत्र की सभी समस्याओं के लिए समाधान भी मिलेगा और पर्याप्त धन भी। ❑

राजस्थान पत्रिका के अंक २८ जनवरी, २०२० से साभार



अरविन्द गुप्ता

उबाऊ स्कूल

आज स्कूलों के पाठ्यक्रम ही शिक्षा का पर्याय बन गए हैं। बहुत कम स्कूलों में अच्छे बाल-साहित्य का पुस्तकालय होता है। शायद ही ऐसे स्कूल होंगे जो बच्चों को पुस्तक मेलों या किताबों की दुकान पर जाने को प्रेरित करते हों। प्रस्तुत लेख में बाल-शिक्षाविद् अरविन्द गुप्ता आज के उबाऊ स्कूलों का चित्रण कर रहे हैं। सं. ❑

ब्रिटिश टेलीकाम कम्पनी का एक इश्तहार है – 'चिल्ड्रन वॉक टू स्कूल, चिल्ड्रन रन अवे फ्रॉम स्कूल' (यानी बच्चे स्कूल जाते समय धीरे-धीरे जाते हैं, पर छुट्टी होते ही घर की ओर दौड़ते हैं।) स्कूलों की वास्तविकता को यह इश्तहार बखूबी दर्शाता है।

बच्चे स्कूल में क्या करते हैं? वे एक यूनीफार्म पहनते हैं और भारी बस्ता ढोते हैं। स्कूल की घंटी बजते ही सभी छात्र प्रार्थना या असेम्बली के लिए एकत्रित होते हैं। उसके पश्चात वे चुपचाप, कई बार मुंह पर ऊंगली रखकर अपनी-अपनी कक्षाओं में जाते हैं। क्लास शुरू होती है। टीचर बोलती है, बच्चे सुनते हैं, उत्तरों को कापी में लिखते हैं, उन्हें रटते हैं जिससे कि अगली परीक्षा में उन्हें उन्हीं शब्दों में लिख पायें। स्कूल का वास्तविक जीवन से अक्सर बहुत कम लेना-देना होता है। कक्षा में बच्चे अपनी कुर्सी या बेन्च पर स्थिर बैठे रहते हैं। उन्हें चलने-फिरने का कोई मौका नहीं मिलता। बच्चे चुपचाप बैठकर टीचर की बात सुनते हैं और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। टीचर सर्वज्ञानी होता है, वो आदेश देता है, निर्णय लेता है, मूल्यांकन करता है और सजा देता है।

स्कूल प्राकृतिक सीखने के तरीके की खिलाफत करते हैं। घरों में बच्चे अपने माता-पिता और अन्य बुर्जुगों से सीखते हैं। साथ-साथ वो अपने छोटे भाई-बहनों को सिखाते भी हैं। परंतु सभी स्कूलों में हम-उम्र के बच्चों को चुनकर एक क्लास में डाला जाता है। कक्षा में उनका सम्पर्क वयस्कों से लगभग कट जाता है। वो केवल अपनी क्लास टीचर को ही जान पाते हैं और इस प्रकार बड़ों से सीखने पर पाबंदी लगती है। टीचर के पास अक्सर कुशलताओं के नाम पर महज कागज की एक डिग्री होती है। यानी अपने से कम या ज्यादा उम्र के लोगों के साथ बच्चों का सम्पर्क कट जाता है। इससे उनके अनुभवों का दायरा फैलने और व्यापक होने की बजाए और संकुचित हो जाता है।

बहुत से शिक्षक और पालक मानते हैं जब बच्चे का स्कूल में दाखिला होता है तो वो एक कोरी स्लेट होता है जिस पर किसी भी राज्य सरकार के पाठ्यक्रम को आसानी से लिखा जा सकता है। अन्य शब्दों में बच्चा मिट्टी का एक लौंदा होता है जिसे आसानी से किसी भी रूप में ढाला जा सकता है। यह बात तो ठीक है कि जब बच्चे का स्कूल में दाखिला होता है तो वो छोटा होता है और बहुत कुछ सीखने को आतुर होता है। पर चार-पांच साल की आयु में जब वो पहली बार स्कूल जाता है तब तक वो दुनिया का काफी अनुभव प्राप्त कर चुका होता है और उसके तमाम खट्टे-मीठे अनुभव होते हैं। बाल-केंद्रित शिक्षा पद्धति बच्चों के अपने अनुभवों को कभी

नकारती नहीं है, बल्कि बच्चों के खुद के ज्ञान को सकारात्मक रूप से आगे बढ़ाती है।

परंतु अधिकांश स्कूलों में जो होता है वो इसके बिल्कुल विपरीत होता है। आज पाठ्य-पुस्तकें ही शिक्षा का पर्याय बन गई हैं। बहुत कम स्कूलों में ही अच्छे बाल साहित्य का कोई पुस्तकालय होता है। और जिन स्कूलों में लाइब्रेरी होती भी है, वहां भी पुस्तकें अल्मारियों में कैद और बच्चों की पहुंच से दूर होती हैं। शायद ही कोई ऐसा स्कूल होगा जो बच्चों को पुस्तक मेलों या किताबों की दुकानों में जाकर पुस्तकें चुनने के लिए प्रेरित करता हो। सेंटर फॉर लर्निंग (सी एफ एल) बैंगलोर में एक ऐसा स्कूल है जिसने सालों से इस काम को किया है। हर शिक्षाविद् को इस स्कूल के सुंदर खुले पुस्तकालय को देखने जाना चाहिए।

बहुत से स्कूलों में 'जैक एक जिल वेन्ट अप द हिल' या 'रिंग-अ, रिंग-अ रोजिज' जैसे अंग्रेजी के बालगीतों को सुना जा सकता है। ऐसे गीत जिनका बच्चों की जिन्दगी से कोई ताल्लुक न हो, को हम क्यों प्रोत्साहित करते हैं? शायद यह एक औपनिवेशिक विरासत है। अंग्रेजों ने हमें न केवल अंग्रेजी भाषा सिखाई वरन उसके साथ-साथ तमाम सांस्कृतिक प्रतीक भी विरासत में दिए। 'रेन-रेन गो अवे' एक ऐसा बालगीत है जो भारतीय बच्चों के ठोस अनुभवों से बिल्कुल उल्टा है। लंदन के मौसम का मिजाज कुछ ऐसा है कि वहां लगभग हर रोज बादल छाये रहते हैं और रिमझिम होती रहती है। वहां बच्चे लगातार हो रही बारिश से तंग आकर बादलों और वर्षा को भगाना चाहते हैं जिससे कि वो बाहर जाकर खेल सकें। यही इस अंग्रेजी बालगीत का सार है। परंतु भारतीय बच्चों के अनुभव इससे बिल्कुल भिन्न होते हैं। गर्मी के मौसम में दिन भर गर्म हवा की लू चलती है, जमीन की छाती सूख कर फट जाती है। गर्मी की झुलसन से तंग आकर सभी लोग वर्षा हो यह प्रार्थना करते हैं। हिंदी में ही ऐसे तमाम लोकगीत हैं जो वर्षा के आगमन का पुरजोर स्वागत करते हैं। क्योंकि तमाम वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद अगर देश में कम बारिश हो तो अकाल आ जाए। वर्षा हमारे लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है और उसका स्वागत इस गीत में दिखाई देता है-

बरसो राम धड़ाके से, बुढ़िया मर गई फाके से
गर्मी पड़ी कड़ाके की, नानी मर गई नाके की
घबराई मछली रानी, देख नदी में कम पानी
पेड़ों के पत्ते सूखे, धोबी के लत्ते सूखे
तब सब मिलकर चिल्लाए, उमड़-घुमड़ बादल आए
ओले बरसे टप-टप-टप, सबने खाए गप-गप-गप!

बच्चों के पहले शब्द, गीत और कहानियां बेहद महत्वपूर्ण होते हैं। वे सभी बच्चे के अपने सांस्कृतिक परिवेश से लिए जाने चाहिए। अगर वे बच्चे के अपने अनुभव का अंग नहीं हुए तो वे जल्द ही उबाऊ बन जाएंगे।

यह सच घटना एक अमरीकी स्कूल की है। स्कूल एक गरीब इलाके में स्थित था जहां की अधिकांश आबादी नीग्रो लोगों की थी। इन अश्वेत बच्चों की पुस्तकें पढ़ने में कोई रुचि नहीं थी। स्कूल में इस स्थिति को सुधारने के कई प्रयास किए गए परंतु सभी विफल रहे। तभी वहां एक नई ट्रेनी टीचर आयी। उसका अनुभव कम था परंतु वो होशियार, संवेदनशील और उत्साही थी। उसे पाठ्यक्रम की किताबों और अश्वेत बच्चों की जिंदगी के बीच कोई रिश्ता नहीं दिखा। शायद इसीलिए बच्चों की उनमें कोई रुचि भी नहीं थी। पर टीचर को अश्वेत बच्चों के जीवन में अपार संगीत दिखाई दिया। नीग्रो लोगों का जीवन संगीत से भरा-पूरा होता है। टीचर ने एक काम किया। उसने बड़े चार्ट शीट्स पर उन बच्चों के प्रिय गाने, मोटे-मोटे शब्दों में लिखे और उन्हें क्लास में टांग दिए। क्योंकि वे बच्चों के पसंदीदा गाने थे इसलिए जल्द ही बच्चे उन्हें बड़े चाव से पढ़ने लगे।

इसमें उन्हें बहुत मजा भी आया और धीरे-धीरे बच्चों की पढ़ने की क्षमता का भी अद्भुत विकास हुआ।❑

पढ़ने और सिखाने का काम काफी जोखिम भरा है। खासकर बाहर से किसी विदेशी पाठ्यक्रम को पलास्तर करना। बच्चों के अनुभव स्वंय इतने सम्पन्न होते हैं इसलिए बाहर से पलास्तर का काम ही गलत है। बच्चे के अंदर इतना कुछ भरा जो है! काश मैं बच्चों को उनके खुद के अनुभवों के माध्यम से सिखा पाती? तब मुझे कोई खास मेहनत मशक्कत भी नहीं करनी पड़ती। तब स्पर्श मात्र से बच्चों के अंदर छिपा ज्वालामुखी फूट पड़ता।

- 'टीचर' पुस्तक की लेखिका सिल्विया ऍश्नट वॉर्नर



ख्वाजा अहमद अब्बास

एक बूढ़ा एक बच्चा

महात्मा गांधी की चंद यादें

राष्ट्रीय अखबार 'बम्बई क्रॉनिकल' के संवाददाता रहे ख्वाजा अहमद अब्बास के बचपन में मुलाकात महात्मा गांधी से उस समय हुई जब वे बालक के रूप में नाना की गोद में थे। और फिर बाद में युवा होने पर वे दो तीन बार महात्मा गांधी से मिले तो उन्हें ऐसा महसूस हो रहा था 'जैसे बच्चा और बूढ़ा' दोनों मुस्करा रहे हों। प्रस्तुत लेख लेखक के बचपन की यादों को ताजा करता है और मन में रोमांच पैदा करता है। पाठकों के लिए बापू को समझने और जानने का एक अवसर देता है। सं. ❑

एक बच्चा एक बूढ़े को देख रहा है। बच्चा नासमझ है।

बूढ़ा बहुत समझदार है, बुद्धिमान है।

बूढ़ा कुछ बोल रहा है, मगर बूढ़े की बातें समझ से बाहर हैं।

मगर बूढ़े की जवान, चमकीली आंखों में (जिन पर लोहे के फ्रेम की ऐनक चढ़ी है।) और उसकी पोपली मुस्कराहट में कुछ ऐसा जादू है कि बच्चा बराबर उस बूढ़े की तरफ देखे जा रहा है।

बूढ़ा बड़े-बड़े लोगों से बातें कर रहा है, जिनमें बच्चे का नाना भी शामिल है। मगर बूढ़े की आंखें बच्चे की तरफ देख रही हैं जो अपने नाना की गोद में बैठा हुआ है।

दोनों की नजरें एक-दूसरे से टकराकर मुस्कुराती हैं, खामोशी की जुबान में एक-दूसरे से कुछ कहती हैं। फिर दोनों मुस्कुरा देते हैं और बच्चे को ऐसा लगता है कि बूढ़ा भी उसकी तरह ही एक बच्चा है। बल्कि शायद उससे भी छोटा। क्योंकि उसके मुंह में तो एक भी दांत नहीं हैं। और बच्चे के सिर्फ दो या तीन दूध के दांत टूटे हुए हैं।

वो बच्चा मैं था ५२ वर्ष पहले का मैं।

वो बूढ़ा महात्मा गांधी थे।

और यह हमारी पहली मुलाकात थी। जो पानीपत के छोटे-से मगर ऐतिहासिक कस्बे में हुई, जहां महात्मा गांधी भाषण देने आए थे। उनका ये भाषण हमारे एक बुजुर्ग के घर पर हुआ था। और इसलिए मैं अपने नाना की गोद में ठीक महात्मा गांधी के सामने बैठा था।

गांधीजी में वो क्या चुंबकीय शक्ति थी कि छोटे-से-छोटा बच्चा खुद-ब-खुद उनकी तरफ खिंचा चला आता है?

एक वजह यह थी कि गांधीजी खुद भी एक बच्चा ही तो थे। मासूम, भोलेभाले, कपड़ों की तरफ से लापरवाह। उनके बदन पर छोटी सी धोती भी लंगोटी ही दिखाई देती थी। चेहरे पर बच्चों जैसी मासूम मुस्कुराहट और फिर बच्चों से उनको कितना प्यार था, कितना लगाव

था। एक मशहूर चित्र है समुद्र के किनारे, जुहू के साहिल पर सूरज ढले गांधीजी की लाठी पकड़े एक बच्चा उनको खींचता हुआ लिए जा रहा है। ऐसा लगता है यह तस्वीर गांधीजी के जीवन और उनके करैक्टर की एक रोशन निशानी है। वो उधर ही जाते थे जिधर उनके अंदर का मासूम बच्चा ले जाता था। उधर नहीं जाते थे जिधर दुनिया के, राजनीति के, सरकार के तजुर्बेकार घाघ उनको ले जाना चाहते थे।

बच्चों की तरह आम इंसान भी भोलेभाले और मासूम होते हैं और वो गांधीजी की तरफ खिंचते चले आते थे।

यही रहस्य था उनकी आश्चर्यजनक लोकप्रियता का। हर किसान, हर अनपढ़ गांधीजी को अपने जैसा ही एक इंसान समझता था जो ऐसी बातें कहता था, जो उनकी समझ में आती थीं, चाहे वो उनको कर सकें या न कर सकें किसी को ख्याल भी न आता था कि वो विलायत के पढ़े हुए एक बैरिस्टर हैं। जिनकी प्रसिद्धि सारी दुनिया में है। जो दुनिया के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों, शासकों, राजाओं, दार्शनिकों, साहित्यकारों और कलाकारों से बातचीत और पत्र व्यवहार करते थे। अपने लिबास से, अपनी बातचीत से, अपनी जीवनशैली से वो किसी गांव के भले आदमी लगते थे जो सिर्फ अपनी आध्यात्मिक महानता से ही दूसरों से अलग और ऊंचे दिखाई देते थे। अध्यात्म का भी उन्होंने कोई रोबदाब वाला ऊपरी स्वांग न रचाया था। न गेरुए सिल्क के कपड़े, न लंबे बाल, न लंबी दाढ़ी, न कभी वो ऊंचे स्वर में बात करते थे। वो कभी भाषण नहीं देते थे, लंबी-चौड़ी



तकरीर नहीं करते थे। वो तो आदमियों की भीड़ के सामने भी ऐसे बोलते थे जैसे एक गांव का बड़ा-बूढ़ा चौपाल में बैठा हुआ गांव के एक आदमी को समझाकर कोई बात बता रहा हो। जब ही तो हजारों लाखों आदमियों में से हर एक को ऐसा महसूस होता था जैसे गांधीजी खुद उससे और सिर्फ उससे बात कर रहे हैं। और फिर हर एक को यह भी लगता था कि जो कुछ गांधी जी कह रहे हैं वो कोई अनोखी और बड़ी बात नहीं है बल्कि खुद उसके अपने मन की आवाज है जिसको न जाने कैसे इस महात्मा ने सुन लिया और उसे सुना रहा है बल्कि याद दिला रहा है।

बचपन की इस मुलाकात के पन्द्रह-सोलह वर्ष बाद मेरी दूसरी मुलाकात गांधीजी से हुई। जब मैं अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में पढ़ता था और वो हमारी यूनियन में भाषण देने आए थे। हाल खचाखच भरा हुआ था मगर मैं डाइस के फर्श पर गांधीजी के कदमों में बैठने में कामयाब हो गया था। जब यूनियन का अघयक्ष स्वागत भाषण दे रहा था तो मैं गांधीजी के चेहरे की तरफ देख रहा था। वो इधर-उधर देख रहे थे। जैसे ये सब प्रशंसा के शब्द किसी और शख्स के बारे में कहे जा रहे हों। एक बार एक नजर मेरी तरफ डाली तो उन्होंने देखा कि ये नवयुवक टिकटिकी बांधे उन्हें घूर रहा है। ये देख कर वो मुस्करा दिए। पहले तो मैं बौखलाया जैसे चोर पकड़ा गया हो। लेकिन फिर शायद मेरे चेहरे पर भी मुस्कराहट उभर आई। और फिर तो ऐसा लगा कि मैं फिर पांच वर्ष का बच्चा हूं और अपने नाना की गोद में बैठा हूं। बच्चा और बूढ़ा महात्मा दोनों एक दूसरे को देख कर मुस्करा रहे हों। गांधीजी को क्या मालूम कि इस नौजवान को बच्चे के रूप में उन्होंने पहले कभी देखा था। उनकी ये मासूम मुस्कराहट हर एक इंसान के लिए थी। ये और बात है कि हर एक यही समझता था कि ये एक मुस्कराहट, ये मां की ममता जैसा प्यार उसी के लिए है।

इसके बाद जब मैं मुंबई पत्रकारिता के लिए आया तो गांधीजी से मिलने के और कई अवसर आए। उनके दक्षिण अफ्रीका वाले साप्ताहिक अखबार के लिए बहुत दिनों तक मैंने आर्टिकल लिखे। पहले गांधीजी खुद पढ़कर उनकी अंग्रेजी ठीक करते थे यानी हर मुश्किल शब्द के लिए कोई आसान शब्द लिख देते थे और हर सप्ताह यह

आर्टिकल डरबन रवाना करके मुझे पांच रुपये भी भिजवा देते थे। जो उस जमाने में मेरे लिए बहुत बड़ी रकम थी। अगरचे मुझे गांधीजी से पैसे लेते हुए शर्म आती थी पर साथ ही गर्व भी महसूस होता था।

फिर जब मुंबई **क्रॉनिकल समाचार पत्र** के मेरे जैसे नवयुवक रिपोर्टरों और सब-एडिटरों ने सत्याग्रह करने की ठानी और जेल जाने की तैयारियां करने लगे तब संपादक बरेलवी साहब परेशान होकर गांधीजी के पास गए और **गांधीजी ने हमें बुलाकर कहा कि मैं सत्याग्रह के कमांडर की हैसियत से हुक्म देता हूं कि तुम्हारा बम्बई क्रॉनिकल जैसे राष्ट्रीय अखबार के लिए काम करना सत्याग्रह ही समझा जाएगा क्योंकि ये भी सच की लड़ाई है।**

और फिर वो समय भी आया जब ३० जनवरी सन् १९४८ की शाम को मरीन ड्राइव पर टहलते हुए किसी ने बताया कि किसी जुनूनी ने गांधीजी को गोलियां चलाकर मार डाला है। और मुझे ऐसा लगा जैसे दुनिया चलते-चलते रुक गई है। जीवन की हरकत बंद हो गई और मैंने महसूस किया कि इस वक्त हंसना, बोलना, बात करना, खाना-पीना, किताब पढ़ना कुछ भी संभव नहीं है। इसलिए मैंने अखबार के दफ्तर का रुख किया। हालांकि उस वक्त मैं ड्यूटी पर नहीं था। और वहां जाकर मैंने अपने आप को काम में लगा दिया। मगर जो आर्टिकल मैं लिख रहा था उसकी हर पंक्ति पर मुझे उस बूढ़े और उस बच्चे की पहली मुलाकात की झलक दिखाई दी जब नरमी और प्यार भरी मासूम मुस्कुराहटें एक-दूसरे से टकराई थी।

और आज मैं सोच रहा हूं कि ये कैसा चमत्कार है कि बच्चा बूढ़ा हो चुका है मगर बूढ़ा (और उसकी याद) आज भी जवान है। ❑ **साभार : समरथ**

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
कार्यकारिणी की बैठक

समिति कार्यकारिणी की बैठक ११ जनवरी, २०२० को जयपुर में संपन्न हुई। बैठक में समिति के सचिव अरविन्द ओझा ने सभी सदस्यों का अभिनंदन करते हुए नव वर्ष की हार्दिक शुभकामनाएं दी। गत बैठक की कार्रवाई के विवरण की पुष्टि की गयी। संपन्न हुए कार्यक्रमों का प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए बताया कि समिति ने प्रयोग की दृष्टि से एक नया काम शुरू किया है इसमें ग्रामीण महिला समूहों के जागरण एवं स्वावलम्बन की दिशा में आमुखीकरण करना है। इसके अलावा महात्मा गांधी के जन्म दिन पर प्रार्थना सभा, विश्व रंगमंच दिवस २७ मार्च, स्व. भवानी प्रसाद मिश्र के जन्म दिन २९ मार्च, शिक्षाविद् डॉ. आनन्द लक्ष्मी की स्मृति में ९ अप्रेल, दृग फोटोग्राफी प्रशिक्षण कार्यशाला १५-१९ जून, रिपोर्ट राइटिंग एवं दस्तावेजीकरण पर १९-२३ अगस्त, स्व. अनिल बोर्दिया की स्मृति में २३ सितम्बर को कार्यक्रम आयोजित हुए। गर्ल्स नॉट ब्राइड्स के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय बालिका दिवस का आयोजन किया गया।

समिति ने एक नया कार्यक्रम शख्सीयत प्रारंभ किया है। हर माह आयोजित होने वाले इस कार्यक्रम में खास व्यक्तियों से संवाद किया जाता है। सुरसंगत का कार्यक्रम हर माह नियमित हो रहा है। सुरसंगत के कार्यक्रम में पिछले माह दो सदस्यों ने भवन मरम्मत के लिए २५,०००-२५,००० कुल ५०,००० रुपये की राशि समिति को दी है। समिति में 'दृश्य-श्रव्य संवाद कक्ष' की स्थापना की जाये। कुछ सदस्यों ने पुस्तकालय के लिए पुस्तकें भी भेंट की। अनौपचारिका का प्रकाशन नियमित हो रहा है। सभी सदस्यों ने इसकी सराहना की सीमित साधनों के बावजूद कई कार्यक्रम किये गए।

सदस्यों की राय थी कि गांधी-१५० पर समिति को एक बड़ा कार्यक्रम आयोजित करना चाहिए। शिक्षा पर फोकस कार्यक्रम किये जाने चाहिए। कोषाध्यक्ष अविनाश भार्गव ने वर्ष २०१८-१९ के अंकेक्षित लेखे प्रस्तुत किये जिसकी सभी सदस्यों ने पुष्टि की।

छब्बीसवें राजस्थान प्रौढ़ शिक्षा सम्मेलन की तिथियों का निर्धारण १७-१८-१९ अप्रेल, २०२० किया गया। यह सम्मेलन जयपुर में आयोजित करने का भी निर्णय हुआ। सम्मेलन का विषय-वर्तमान परिस्थितियों में गांधी के सत्याग्रह और अहिंसा के विचार' रखा गया है। ❑



रमेश थानवी

हम रहे अंगूठा छाप

हम कई जगह से साक्षरता शिक्षण के लिए प्रशिक्षित होकर और अक्षर सीखाने की कई विधियों, विधाओं को सीखकर गांव-गांव आखर सिखाने चल दिये थे। मंशा यह थी कि आज जो अंगूठा लगाते हैं वे अंगूठा नहीं लगायेंगे। अंगूठा लगाने की आदत को छुड़ाना और अंगूठा लगवाने वाले लोगों की मंशा के प्रति आगाह करना हमारा तब मुख्य मकसद था। हम कहा करते थे कि - ऊपर की ये इबारत पढ़कर अंगूठा लगाओ और अंगूठा लगवाने वाले लोगों के छल भरे मंसूबों को समझ-बूझकर अंगूठा लगाओ या मत लगाओ। यही तब प्रौढ़ शिक्षा का मूल असली उद्देश्य था।

अंगूठा छाप होना तब एक गाली थी और साक्षर एवं शिक्षित होना गर्व का विषय हुआ करता था। हम लोगों ने हर चुनाव में यह पता लगाने की कोशिश की थी कि कितने निर्वाचक अपना वोट देने से पहले हस्ताक्षर करते हैं और अंगूठा नहीं लगाते हैं। चुनाव दर चुनाव जब हस्ताक्षरों की संख्या बढ़ती जा रही थी और अंगूठों की संख्या कम होती जा रही थी तब हम अपनी पीठ थपथपा लिया करते थे और हर निर्वाचक को अपना आभार एवं आदर मन ही मन व्यक्त कर लेते थे।

अंगूठा लगवाना इसलिए बंद किया था कि शोषण करने वाले तमाम संस्थान एवं लोग लोगों की निरक्षरता का फायदा न उठायें और उनको अपनी ठग-विद्या का शिकार न बनायें।

ऐसा जो भी करते थे वे पूंजीवादी व्यवस्था के ऐजेंट हुआ करते थे। तब पूंजीवाद ने आज की तरह हमारे समाज को अपने शिकंजों में नहीं कसा था। उसका बोलबाला थोड़ा धीमा था। हमें आदमी के स्वाभिमान को बुलंद बनाना था और उसके वैयक्तिक, लोकतांत्रिक अधिकार की रक्षा करनी थी। यह प्रौढ़ शिक्षा का घोषित एजेंडा था।

जिसके अवतरण से हम डर रहे थे वह आखिर आ ही गया। पूंजीवाद अपने प्रचंड स्वरूप में भारत के लोकतांत्रिक ढांचे पर छा ही गया। पूंजीवाद ने एक नया रास्ता अपनाया जो अंगूठा हमारे लिए वर्जित था वही अंगूठा पूंजीवाद के लिए प्रवेश का प्रमाण-पत्र बन गया। अब हर आदमी रोटी कमाने की जगह पर, चाहे वो दफ्तर हो या दूकान, अंगूठा लगाकर ही प्रवेश करने लगा। बात यहीं तक नहीं रुकी वह आगे भी बढ़ी। आगे यह हो गया कि हर व्यक्ति का अपना अंगूठा उसके कंप्यूटर का पासवर्ड हो गया। इस पासवर्ड अर्थात अंगूठे की छाप से ही उसका कंप्यूटर खुलने लगा और बंद होने लगा। अब थोड़ा और सोंचे कि कंप्यूटर रोटी रोजी का साधन भी है और कंप्यूटर अपनी खाता बही भी बन जाता है। और भी कई काम हैं संपर्क एवं संप्रेषण सभी कुछ कंप्यूटर से संपन्न होते हैं। आपके अंगूठे को आपकी पहचान बनाकर। अंगूठा पहले है काम बाद में है। फिर वही ढाक के तीन पात। हम अंगूठा मिटाने चले थे और अंगूठे को पूंजीवाद ने फिर प्रतिष्ठित कर दिया। पाठक विचार करें कि ऐसा क्यों हुआ?

अंगूठे के पुनर-आगमन की कथा अब आगे बढ़ती है। मीलों में, दफ्तरों में, कल कारखानों में, दूकानों में

और बड़े-बड़े संस्थानों में चाहे वो महाविद्यालय हो अथवा विद्यालय या फिर विश्वविद्याय अथवा सचिवालय सभी जगह अंगूठा ही प्रवेश का प्रमाण-पत्र बन गया है। हम लोग सोच रहे हैं कि यह क्या हुआ ? जाहिर है कि हम यह भी सोचते हैं यह क्यों हुआ ?

दूसरे सवाल का उत्तर हमारे पुरखे पहचान गये थे। वे अच्छी तरह से जान गये थे कि आदमी की पहचान उसके अंगूठे पर छपी आकृतियों के निशानों से ही होती है। वे यह भी जान गये थे कि आदमी के अंगूठे के निशान को कोई मिटा नहीं सकता। चाहे वो आदमी का अंगूठा हो या औरत का उसकी नितान्त निजी पहचान होता था। यह पहचान उसको कुदरत से मिलती थी। वह मां की कोख से जो निशान लेकर प्रकट होता था वही निशान गहरे दर गहरे बनते चले जाते थे। घनीभूत होती थी एक छाप जो आदमी की अपनी होती थी। शरीर छोड़ देने पर लाश के साथ भी अंगूठे की छाप जुड़ी रहती थी। यही कारण था कि अंगूठा मात्र एक उसकी पहचान का साधन बना हुआ था।



हम आखर को अंगूठे से पहले रखना चाहते थे। हमारी मंशा थी कि आखर से शिक्षा की शुरुआत होती है और आखर से खुलने वाली खिड़की आदमी को क्षितिज तक झांकने की सामर्थ्य देती है इसलिए हर आदमी अगर शिक्षित हो जाये और आखर का सहारा लेकर आगे बढ़ जाये तो वह अपनी गति अथवा प्रगति को बनाये रख सकता है।

पूंजीवाद अथवा बाजार अथवा अमेरिका से आया हुआ प्रबन्ध तंत्र हमारी मंशा को पहचान गया था। उसको आखर से प्राप्त की जाने वाली गति अथवा प्रगति गवारा नहीं थी। वह चाहता था और आज भी चाहता है कि आदमी गुलाम का गुलाम बना रहे। सिर उठा कर ऊपर देखने की जुर्रत भी न करे। जैसा कहा जा रहा है वैसा ही करे। काम में अपनी सक्रिय भागीदारी का भरोसा भी छोड़ दे। अपने कौशल अथवा अपनी दृष्टि संपन्नता के उपयोग की हर संभावना को नकार दे। सिर्फ नौकर बना रहे। चाकर बना रहे।

ऐसी व्यवस्था जहां पर हो वहां भला अंगूठे से अधिक और क्या चल सकता है? जहां ऐसी व्यवस्था हो वहां कोई दूसरा सुर कैसे छेड़ा जा सकता है? कोई अपना अपना राग कैसे अलाप सकता है? संगीत भले वहां कैसे आ सकता है? रंग भी भला कोई अपने कैसे भर सकता है?आशय सिर्फ इतना है कि बाजार में कला, संस्कृति और किसी उत्सव के लिए जगह कैसे बन सकती है? बाजार जितने उत्सव आयोजित करता है वे सारे उत्सव बाजारू ही होते हैं। वहां कोई रस नहीं होता, रंग-रूप नहीं होता और जीवन भी नहीं होता।

अगर अंगूठा नहीं होता है तो शिक्षा होगी। शिक्षा होगी तो संस्कृति होगी। संस्कृति होगी तो गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर होंगे। गुरुदेव होंगे तो गांधी भी होंगे। गांधी होंगे तो आजादी भी होगी। स्वावलम्बन भी होगा। सादगी भी होगी और हर आदमी की आवश्यकता अधूरी ही नहीं चौथाई रह जायेगी। विदेशी वस्त्रों की होलियां भी जलेंगी और अगर ऐसा हुआ तो सारा निर्यात रुक जायेगा। अन्तरराष्ट्रीय बाजार ठप्प हो जायेगा। डालर,पाउंड आदि सब नीचे गिर जायेंगे। तब भला क्या होगा? तो पाठक जरा सोचें की अंगूठे को वापिस लाना कितना जरूरी है। इस वापसी पर भला पूरी दुनिया के स्वार्थ परस्त बाजारों की नजर क्यों न होगी? अंगूठे पर तो द्रोणाचार्य की वक्रदृष्टि भी पड़ गयी थी। वे भी घबरा गये थे कि अंगूठा भला किसी भील के पास कैसे रह सकता है? पाठक समझ सकते हैं कि अंगूठे का आतंक कितना बड़ा है जो आज किसी को गवारा नहीं है।

अंगूठा न रहे और शिक्षा हो जाये तो सारी कलाएं समृद्ध होंगी। शिक्षा यदि सचमुच हो जाये तो लोग गुलामी पसन्द नहीं करेंगे और सच्चा लोकतंत्र समाज में स्थापित होगा। सरकारें भ्रष्टाचार नहीं करेंगी और आम आदमी की शिरकत शासन में बढ़ जायेगी। सच्ची शिक्षा का परिणाम सच्चा ही होगा, मगर आज उस शिक्षा की दहशत बड़ी भारी है। उस दहशत के डर से ही पूरे समाज को पुनः अंगूठा छाप रखने की हर पुरजोर कोशिश की जा रही है। पाठक कृपया विचार करें कि हम क्यों रहे अंगूठा छाप। ❑

समिति का शख्सीयत कार्यक्रम

समिति का शख्सीयत कार्यक्रम २० जनवरी को आयोजित हुआ। इस कार्यक्रम में शख्सियत थे–वयोवृद्ध न्यायमूर्ति श्री पानाचन्द जैन। आपने देश में लागू नागरिकता संशोधन कानून (सीएए) पर विस्तार से चर्चा की और संभागियों के सवालों के जवाब दिए। हरिदेव जोशी पत्रकारिता विश्वविद्यालय के कुलपति ओम थानवी ने भी अपना पक्ष रखा। वरिष्ठ पत्रकार राजेन्द्र बोड़ा ने कार्यक्रम का संचालन किया। ❑





गणतंत्र दिवस समारोह का आयोजन

२६ जनवरी को समिति में झंडा रोहण कर गणतंत्र दिवस मनाया गया। इस अवसर पर आयोजित कार्यक्रम में अध्यक्ष रमेश थानवी ने सभी को अहमदाबाद के विनय और चारुल का प्रसिद्ध गीत 'हम लोग' हमने कहा, आजाद है अब, दिल की सुनेंगे यहां... का गायन करवाया। भंभोरिया गांव से आयी महिलाओं ने भी देशभक्ति के गीत प्रस्तुत किये। प्रसिद्ध ध्रुपद गायिका डॉ. गायत्री शर्मा ने ईश वंदना के माध्यम से सूर्योदय के प्राकृतिक वातावरण को साकार किया। कार्यक्रम के अंत में गीत ऐ मेरे प्यारे वतन..., भीख में जो मोती मिले..., लता मंगेशकर के गाये प्रसिद्ध गीत ऐ मेरे वतन के लोगों जरा आंख में भर लो पानी... प्रदर्शित किया। ❑



स्वत्त्वाधिकारी राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा कुमार एंड कम्पनी, जयपुर में मुद्रित तथा ७-ए, झालाना संस्थान क्षेत्र, जयपुर-३०२००४ से प्रकाशित। संपादक - रमेश थानवी

चि त्र स मा चा र

बापू की पुण्य तिथि पर अहिंसा संवाद

समिति में ३० जनवरी को एक प्रार्थना सभा का आयोजन किया गया। इसमें दर्शक संस्था से आये कलाकारों ने गांधी के प्रिय भजनों की प्रस्तुति की। दो मिनट का मौन धारण करके बापू को श्रद्धांजलि अर्पित की गई।

इस अवसर पर एक अहिंसा संवाद का आयोजन भी किया गया। प्रसिद्ध गांधी विचारक डॉ. नन्दकिशोर आचार्य ने बहुलवाद पर अपना वक्तव्य देते हुए कहा कि हमें सभी धर्मों का सम्मान एवं आदर करना चाहिए। उनके प्रति आस्थावान होना चाहिए। मनुष्य होने के अर्थ क्या हैं? मनुष्य होने के नाते हमसे क्या उम्मीद की जाती है? दूसरे व्यक्तियों के साथ हम कैसा व्यवहार करें? आदि सवालों पर विस्तार से चर्चा की। इस अवसर पर वरिष्ठ शिक्षाविद् डॉ. शारदा जैन ने साम्प्रदायिक सद्भाव को रेखांकित करते हुए कहा कि आज विभिन्न धर्मों के प्रति 'सम्मान एवं संवाद की पहल की जानी चाहिए। संवाद का प्रारंभ वरिष्ठ पत्रकार राजेन्द्र बोड़ा ने किया।

संवाद कार्यक्रम के प्रारंभ में नन्द किशोर आचार्य ने गुजराती के लेखक स्वर्गीय नारायण भाई देसाई की लिखी हुई एवं समिति द्वारा प्रकाशित १२ पुस्तिकाओं का विमोचन किया। मूल गुजराती में लिखी पुस्तिकाओं का अनुवाद रामनरेश सोनी ने किया है। इस अवसर पर समिति द्वारा प्रकाशित गांधी के संदेशों के १३ कार्ड भी प्रदर्शित किये गये। कार्यक्रम का संचालन समिति के संयोजन सचिव दिनेश पुरोहित ने किया। ❑









